

बृहदारण्यक उपनिषद्

एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० रघुवंश झा
अध्यक्ष
स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग कामेश्वर नगर,
ल० ना० मिथिला विश्व विद्यालय,
दरभंगा

प्रकाशक :
किशोर विद्या निकेतन
भदेनी, वाराणसी
१९८४

प्रकाश :
किशोर विद्या निकेतन
बी. २/२३६ ए. भदैनी,
वाराणसी

प्रथम संस्करण १९८४

मूल्य ८०-००

मुद्रक :
देववाणी प्रेस
सी० ३०/३९ इ०, बड़ी मलदहिया, वाराणसी।

प्राक्कथन

भारतीय विद्याका मूल निधान उपनिषद् है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें भारत वर्ष जो विश्वका नेतृत्व करता आया है उसका आधार उपनिषद् ही है। उपनिषद्से उद्भूत आलोकरश्मि विभिन्न प्रकारके धर्म-मतोंके परस्पर संघर्षमें एक समन्वयसूत्रका अविष्कार करनेमें समर्थ हुई हैं। इसमें सभी प्रकारके मत विरोधका उपशमन पूर्वक एक ध्रुव एवं शाश्वत पथका निर्देश किया गया है जो समग्र मानव इतिहासमें चन्द्रलोकमें अवतरण करनेकी अपेक्षा भी अधिक महत्व-पूर्ण है। वस्तुतः आजके वैज्ञानिक युगमें उपनिषदों की महत्ता और भी बढ़ गयी है; क्योंकि इसके द्वारा प्रतिपादित तथ्य वैज्ञानिक अनुसंधानसे और भी पुष्ट हुआ है - इस पर कोई आँच नहीं आयी है। मानव समाजमें विद्यमान अनन्त प्रकारके भेदमें अभेद, अशान्तिमें शान्ति, खण्ड एवं अपूर्णताके स्थानमें एक, अखण्डपूर्ण रूपकी उपलब्धिके लिए उसके पथका निर्देश उपनिषद्में किया गया है। यद्यपि विश्वमें भिन्न-भिन्न प्रकारके धर्म समाज विद्यमान है तथापि सभी धर्म समाजका आदर्श कर्मकाण्डमें ही सीमाबद्ध है। विहार, चर्च, मन्दिर, मस्जिद प्रभृति धर्मराज्यमें कर्मकाण्डके प्राधान्यका ही स्थापन है; परन्तु ज्ञानकाण्ड रूप उपनिषद् कर्मकाण्डका अतिक्रमण कर एक अखण्ड, अद्वितीय सत् चिद्घन एवं आनन्दको उपलब्ध करानेके लिए जो उपदेश दिये हैं—यह विश्वके धर्म मतमें उपलब्ध नहीं है। मैक्समूलर साहबने कहा है कि "उपनिषद्......... एक ऐसा दर्शन है जिसमें मुझे मानवी भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची प्रतीत होती है'। निराशावादी जर्मन दार्शनिक शोपेनहावरने भी उपनिषद्में ही आशाकी किरण पाकर कहा है—

"In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of thc Upanisads. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death."

उपनिषद् साहित्य असीम समुद्रके समान विस्तृत एवं अतलस्पर्शी गम्भीर है। समग्र उपनिषद् साहित्यका अध्ययन एवं उसके रहस्यका विवेचन किसी एक व्यक्तिके लिए अपने समग्र जीवनपर प्रयास करनेपर भी सम्भव नहीं है इससे भी बृहदारण्यक उपनिषद् सभी उपनिषदोंमें शीर्ष स्थान प्राप्त किये हुए विद्यमान है। यद्यपि भाष्यकार शंकराचार्यने एकादश उपनिषद्के भाष्यकी रचना की है तथापि उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद्पर जो अति विपुल भाष्य निर्माण किया हैं उसके माध्यमसे समग्र वेदराशिके रहस्यका ही उद्घाटन किया है, और इस बातका उल्लेख वार्तिकके प्रारम्भमें सुरेश्वराचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें किया है।

समग्र बृहदारण्यकका आशय एक ग्रन्थमें समाविष्ट करना सम्भव नहीं है क्योंकि, तब तो बहुसहस्र पृष्ठोंमें भी उसका समावेश नहीं होगा। इसलिए बृहदारण्यक उपनिषद्के विशेष-विशेष महत्त्वपूर्ण अंशोंका ही पर्यालोचन मैंने इस पुस्तकमें प्रस्तुत किया है। इसमें बृहदारण्यक भाष्यके गम्भीर तात्पर्यके निरूपणके अतिरिक्त उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमिको भी प्रकाशमें लानेका भी मेरा प्रयास रहा है। उपनिषद्के प्रतिपाद्य विषयका अवलम्बन कर ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्यमें विस्तृत पर्यालोचन किया गया है। ब्रह्मसूत्रके अधिकरणका निर्माण भी उपनिषद्के प्रतिपाद्य विषयको लेकर ही हुआ है इसलिए ब्रह्मसूत्र भाष्यके अध्ययनके विना उपनिषद्के रहस्यका विवेचन सम्भव नहीं है। इस पुस्तकमें श्रोतव्य विधि विचारके प्रसंगमें मैंने अतिशय विस्तृत पर्यालोचन किया है। ग्रन्थ-विस्तारके भयसे स्वेच्छानुरूप प्रतिपादन मैं नहीं कर सका हूँ, परन्तु अपने प्रयाससे मैं विरत नहीं हूँ। आशा है कि मैं निकट भविष्य में बृहदारण्यक उपनिषद् का रहस्य शांकरभाष्य, भामती, विवरण प्रभृति ग्रन्थके अनुसार खण्डशः प्रकाशितकर उसके द्वारा बृहदारण्यक उपनिषद्का अपरिमेय गाम्भीर्य शिक्षा-जगतके समक्ष उपस्थापित कर सकूँगा।

परिशेषमें मैं यह उल्लेख करना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि बृहदारण्यक उपनिषद् एवं उसके शांकर भाष्यके अध्ययन क्रममें हमारे माननीय गुरु डा० शीतांशुशेखरबागची, एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट् महोदयने विभिन्न प्रकारके अध्ययन-अध्यापन आदिकी व्यस्तताके रहते हुए भी जिस वात्सल्य भावसे मुझे महत्त्वपूर्ण उपदेश देकर कृतार्थ किया है इसके लिए मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। वस्तुतःशब्द मात्रके द्वारा यह कृतज्ञताज्ञापन करना धृष्टता नहीं तो और क्या है? मेरा अध्ययन उनके पाद-पद्मोंके निकट बैठकर ही हो पाया है। एतदर्थ मैं आजीवन उनका ऋणी रहूँगा। अन्तमें वाराणसीके प्रकाशक "किशोर विद्यानिकेतन" संस्थाके स्वामी श्री नन्दकिशोर द्विवेदीजी एवं मुद्रक देववाणी प्रेसको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिनकी तत्परता से पुस्तक अतिशीघ्र प्रकाशमें आ सकी। मैं पं० रामाशंकर शास्त्रीजीको भूयसः प्रणति करता हूँ जिनकी देख-रेखमें प्रूफका कार्य सम्पन्न हुआ है। मेरी सहधर्मणी श्रीमती गिरिजा झा ने ग्रन्थ निर्माणमें अत्यधिक सहायता प्रदान की है, अतः वे भी धन्यवादको पात्रा हैं। इति शम्।

—लेखक

भूमिका

भारतके इतिहासका उषाकाल वैदिक-युग है। इससे पूर्वकी विशिष्ट संस्कृतिने इसी प्रवाहमें अपनेको जीर्ण-शीर्ण कर दिया है आत्म चेतनाका रहस्य मन्त्र-साहित्य से आरम्भ हो कर उपनिषद्, वेदान्त या उत्तरमीमांसाके रूपमें सहस्र धाराओंमें प्रवाहित है। वैदिक-साहित्यके अध्ययनने यह स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान और कर्म के मध्यमें कोई प्राचीर उस युगमें नहीं थी। सभी कर्म ज्ञानमें ही परिसमाप्त होते थे। कर्मकाण्डका लक्ष्य स्वर्ग, जो आत्मचेतनाके द्वारा उपलब्ध लोकोत्तर चिन्मय भूमिमें उत्तीर्ण होना है, एक ज्योतिर्मय अनुभव ही 'स्वः' है जो ज्ञान के द्वारा प्राप्त मोक्ष से अभिन्न है।

शुक्लयजुर्वेदका शेष अध्याय 'ईशोपनिषद्' है। यह संहिता भागमें ही अन्तर्युक्त है, इसके अट्ठारह मन्त्रोंमें उदार-उदात्त भावनाके साथ विराट्के समन्वय की दिशाका अतुलनीय निदर्शन है। ऐसा अनुभव होता है कि कर्मवादके शेषमें सार्वभौम ज्ञान प्रदीपके प्रकाशमें अशेष कर्मोंकी प्रभाभास्वरता प्रदानकर दी गयी है।

बृहदारण्यकका याज्ञवल्क्य जिसने कृष्णयजुर्वेदको शुक्ल यजुर्वेदमें परिवर्तित किया वह भी स्मरणीय है। कृष्ण = अविद्या कर्मको शुक्ल = विद्याकर्ममें रूपान्तरित करना है। शुक्लयजुर्वेदका प्रवर्तक एवं उपनिषद्का याज्ञवल्क्य एक ही है। अतः संहिताके मन्त्रकाल से ही ज्ञानाग्नि उद्दीप्त हो उपनिषद्काल में प्रौढ़ प्रभावी दीप्तिसे विश्वको आलोकित किया।

ब्राह्मणका शेष पर्व आरण्यक है और आरण्यकका शेष पर्व उपनिषद् है। उपनिषद् शब्दको लेकर अनेक वितर्क हैं। उप-निषद् (बसना) : अतः, इसका मौलिक अर्थ समीपमें रहना होता है। पाश्चात्योंकी दृष्टिमें इस आधार पर अरण्यमें आचार्यके पास जाकर जो विद्याग्रहण की जाती है वही उपनिषद् है[1]। छान्दोग्य उपनिषद्में विद्याग्रहणके लिए गुरुके पास जाना इतना ही अर्थ होकर

---

१. Oldenberg ने उपनिषद् का अर्थ उपासना किया है। Bodus ने यज्ञाग्निके पास रहना उपनिषद् है। Houer ने उपासना और ध्यानसे लभ्य रहस्य ज्ञान ही उपनिषद् है। Deussen ने रहस्य विद्या यह अर्थ समझा है।

शङ्कर के अनुसार गुरुका अन्तरङ्ग एवं प्रिय होकर गुरुके द्वारा आत्म तत्त्वका दर्शन करना श्रवण करना आदि अर्थ है। किन्तु यह सत्य है कि आचार्यके समीप रहकर ही सभी विद्याओंका ग्रहण करना उपनिषद् का अर्थ मानना होगा, क्योंकि विद्याग्रहण, आचार्यके समीप ही होता है। अतः, उपनिषद् शब्द पारिभाषिक अर्थका बोधक है—यही मानना होगा। शाकल संहिताके खिलसूत्र में इसका सर्व प्रथम प्रयोग मिलता है। समानार्थक प्रयोग महाभारतमें भी मिलता है। सभी दृष्टियोंसे विचार करनेपर एक देवता या दीप्ति आचार्यके हृदयमें निषण्ण होती है और उसके सान्निध्यमें जो तत्त्वज्ञानका स्फुरण होता है—वही उपनिषद् है। आचार्यके पास विद्याग्रहण गौण अर्थ मात्र है। शङ्कराचार्यने भी अविद्याका नाश करना ही उपनिषद्का अर्थ माना है।[1]

शुक्लयजुर्वेदके अन्तर्गत ईश एवं बृहदारण्यकोपनिषत् है। ईशोपनिषत् संहिताके अन्तर्गत है। शतपथ ब्राह्मणके अन्तर्गत बृहदारण्यक है। इसमें अध्यायोंमें कतिपय ब्राह्मणोंकी समष्टि है। दो दो अध्यायोंको लेकर एक एक काण्डकी कल्पना है, मधुकाण्ड, मुनि या याज्ञवल्क्यकाण्ड, खिलकाण्ड काण्वशाखाके अन्तर्गत उपलब्ध उपनिषत् पर ही भाष्यकी रचना शङ्करने की है। यह विश्वरूप अश्वकी उपासनासे आरम्भ है। इसमें ब्रह्मविद्या या आत्मविद्याका प्रधान रूपसे निर्देश है। इसी उपनिषद्में अमृत चेतना मधुकी उपासना भी प्रदर्शितकी गई है। इसमें याज्ञवल्क्यके द्वारा प्रदत्त आत्म मीमांसा ज्ञान ही आज भारतीय दर्शनकी सहस्र धाराओंमें पुष्पित एवं पल्लवित है अतः यह महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है।

इस उपनिद्का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुतकर डा. झाने दार्शनिक जगत के बहुत बड़े अभावको दूरकर नवीनज्ञान चेतनाका सन्देश दिया है। एवं असीम अतुलनीय ज्ञान चिन्तनको विद्याप्रेमियोंके सम्मुख उपस्थापित किया है डॉ० झा ज्ञानराशिकी समुद्दीप्तिसे सतत् दर्शन जगत्को प्रोद्भासित करते रहें—यही एकमात्र आशा एवं आंकाङ्क्षा है।

—डॉ० महाप्रभु लाल गोस्वामी,
एम. ए., पी-एच्. डी., डी. लिट्
आचार्य एवम् अध्यक्ष, तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग।
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी

---

१. बृहदारण्यक, कठ, मुण्डक भाष्य भूमिका।

सूची-पत्र



ॐ

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

प्रथम अध्याय

बृहदारण्यक उपनिषद् की अवतरणिका

सभी उपनिषदोंमें बृहदारण्यक उपनिषद् शब्दतः और अर्थतः विशाल है। इसका अर्थ और तात्पर्य निरूपित करना बहुत ही कठिन है। इसके प्रतिपाद्य विषय-समूहोंके परस्पर सम्बन्धका निरूपण करना तो और ही कठिन है। शंकराचार्यके पूर्ववर्ती आचार्यगण जैसे भर्तृमित्र, भर्तृप्रपंच प्रभृतिके व्याख्यानसे यह बात स्पष्ट है।[1] भाष्यकार शंकराचार्यके गहन एवं प्रामाणिक ग्रन्थोंमें प्रदर्शित व्याख्यान ही हमलोगोंका एकमात्र उपजीव्य है। उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद्का भाष्य अन्य उपनिषद्के भाष्योंसे अधिक विस्तृतरूपसे प्रस्तुत किया हैं। सभी उपनिषद्भाष्योंमें बृहदारण्यक-उपनिषद्-भाष्यको शंकराचार्यकी सर्वोत्कृष्ट कृति कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। ग्रन्थके आकारकी दृष्टिसे सभी उपनिषदोंमें यह बृहत् है और इसका प्रतिपाद्य विषय भी बृहत् है। शंकराचार्यने इस उपनिषद्के भाष्यमें बड़े ही मार्मिक ढंगसे जीव और ब्रह्मका ऐक्य प्रतिपादित किया है। फिर भी, भाष्यकारने अपने भाष्य ग्रन्थको "स्वल्प ग्रन्थावृत्ति" अभिहित किया है। इनके गम्भीर भाष्यका आशय प्रदर्शित करना अतिशय कठिन व्यापार है।

भाष्यके व्याख्याताओंमें सर्व प्रथम एवं सर्वप्रधान सुरेश्वराचार्य हैं। इनका यह व्याख्यान-ग्रन्थ श्लोकबद्ध है तथा बृहदारण्यक-

१. प्राचीन मीमांसकगणेरदृष्टिवैचित्र्य—म० म० योगेन्द्रनाथ तर्क-वेदान्त-तीर्थ (आवर हेरिटेज माल्यूम १, पार्ट–१, १९५३) पृ० १०३।

भाष्य-वार्तिक नामसे प्रसिद्ध है। सुरेश्वराचार्यने कहा है कि[1] साधुजनोंकी शान्तिके लिए पूर्ववर्ती गुरुवर्गका अनुवर्त्तन करके आचार्य शंकरने काण्वोपनिषद्-बृहदारण्यक उपनिषद्के व्याख्यानके छलसे सभी वेदार्थोंके संशोधनकारी भाष्य की रचना की हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् माध्यन्दिनीय-शतपथ-ब्राह्मण एवं काण्व शतपथ-ब्राह्मण का अंश है। "उषा वा अश्वस्य"से लेकर "द्वया ह प्राजापत्या"के पूर्व तक जो काण्व-शतपथ का अंश है उसका पाठ माध्यन्दिनीय-शतपथके बृहदारण्यकमें नहीं किया गया है। निष्कर्ष यह है कि माध्यन्दिनीय-शतपथका बृहदारण्यक 'द्वया ह प्राजापत्या से आरम्भ किया गया है 'उषा वा अश्वस्य'से आरम्भ नहीं किया गया है। 'उषा वा अश्वस्य'से आरम्भकर 'देवतानामेको भवति' तक जो काण्व-शतपथ-बृहदारण्यकके प्रथम अध्याय का द्वितीय ब्राह्मणतकका अंश है वह माध्यन्दिनीय-शतपथके बृहदारण्यकके आरम्भमें नहीं कहा गया है। इसलिए यह विचारणीय है कि ये दो काण्व और माध्यन्दिनीय-शाखाओंके बृहदारण्यक क्या भिन्न हैं? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि प्रदर्शित स्थलमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। कारण, जिस अंशके विषयमें ऐसा कहा गया है कि माध्यन्दिनीय-शतपथके बृहदारण्यकमें नहीं है वह अंश तो माध्यन्दिनीय शतपथके बृहदारण्यकमें पहले ही पाठ किया गया है। इसलिए, काण्व शतपथ एवं माध्यन्दिनीय-शतपथके बृहदारण्यक उपनिषद् समान ही है। कोई भी अंश माध्यन्दिनीय-शतपथमें छोड़ा नहीं गया है। 'उषा वा आवस्य' इत्यादिसे आरम्भ करके 'द्वयाह प्रजापत्या' अंशतक मध्यान्दिनीय-शतपथके बृहदारण्यकमें पहले ही पाठ किया गया है।[2] इसलिए, माध्यन्दिनीय-शतपथका जो बृहदारण्यक है वह 'द्वयाह प्राजापत्या'के द्वारा ही आरम्भ किया गया है, 'उषा वा अश्वस्य'के द्वारा नहीं।

---

१. यां काण्वोपनिषच्छलेन सकलाम्नायार्थसंशोधिनीं।
संचकुर्गुरवोऽनुवृत्तगुरवो वृत्तिं सतां शान्तये ॥ २ ॥ स० वा०

२. माध्यन्दिनीय-शतपथ बृ० पृ० १११९।

बृहदारण्यक उपनिषद्का प्रधान-प्रतिपाद्य-विषय ब्रह्म-विद्या है। इस ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति याज्ञवल्क्यको किस प्रकार हुई इसका विस्तृत-विवरण महाभारत[1] में दिया गया है। बृहदारण्यकके अन्तमें ब्रह्म-विद्याकी प्राप्ति किसे किससे हुई थी इसका भी विवरण प्रदर्शित है। जो भी हो ब्रह्म-विद्याके मूल याज्ञवल्क्य हैं।

काण्व-शतपथके बृहदारण्यकमें कुल ६ अध्याय विद्यमान हैं। दो-दो अध्यायोंके द्वारा एक-एक काण्डका निर्माण किया गया है। प्रथम दो अध्यायों द्वारा मधुकाण्ड, द्वितीय दो अध्यायों द्वारा मुनिकाण्ड एवं तृतीय दो अध्यायों के द्वारा खिलकाण्ड सम्पूर्ण हुआ है। इसमें मधु-काण्ड आगम-प्रधान है और मुनिकाण्ड उपपत्ति-युक्ति-प्रधान है। अर्थात् मधुकाण्डमें आगमके द्वारा जो विषय प्रतिपादित किया गया है उसी विषयपर मुनिकाण्डमें युक्ति प्रदर्शित की गयी है। खिलकाण्ड अनुक्त समुच्चयार्थक है।

प्रवर्ग्यकाण्डके जो दो अध्याय हैं उसके साथ ब्रह्मविद्याका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रतिपाद्य विषय है 'यज्ञ का शिरः संयोजन।' यज्ञका शिरः छिन्न हो गया था, अतः प्रवर्ग्यकाण्डमें उसका संयोजन प्रदर्शित किया गया है। प्रवर्ग्यकाण्ड कर्मकाण्डके अन्तर्गत होनेके कारण ही आचार्य शंकरने इस अंशकी व्याख्या नहीं की है। किन्तु वह (प्रवर्ग्यकाण्ड) बृहदारण्यकके ही अन्तर्गत है—इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। बृहदारण्यक कहनेसे आठ अध्याय समझना चाहिए और बृहदारण्यक उपनिषद् कहनेसे मात्र ६ अध्याय। प्रवर्ग्यकाण्ड कर्मकाण्डके अन्तर्गत है तथा इसमें ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन भी नहीं है। माध्यन्दिनीय-शतपथके बृहदारण्यकका व्याख्यान पहले ही भर्तृप्रपंच आदि आचार्योंने किया है। इसलिए शंकराचार्यने माध्यन्दिनीय-शत-पथके बृहदारण्यकका व्याख्यान न करके काण्व-शतपथके बृहदारण्यक की ही व्याख्या की है।

बृहदारण्यक उपनिषद्में पौतिभाष्यसे लेकर ब्रह्मातक विद्या-वंशका पाठ किया गया है। वंश-ब्राह्मण पाठमें अर्वाचीनके क्रमसे प्राचीनका

---

१. महाभारत खण्ड ५,, पृ० ५२६७-६९।
वि०..................३।५।

नाम ग्रहण किया जाता है। अर्थात् पहले अर्वाचीनका ही पाठ करके अन्तमें प्राचीनका पाठ किया जाता है। पौतिभाष्य सबसे अर्वाचीन है एवं ब्रह्मा सबसे प्राचीन। पौतिभाष्यको अविधि बनाकर स्वयंभू-ब्रह्मामें विश्रान्त वंश-ब्राह्मणका बृहदारण्यक उपनिषद्के प्रत्येक काण्डके अन्तमें पाठ किया गया है। अर्थात् सब मिलाकर तीन बार पाठ किया गया है; कारण, बृहदारण्यक उपनिषद्में काण्डोंकी संख्या तीन है।[1]

ब्राह्मण-ग्रन्थके अन्तर्गत उपनिषद् है। लेकिन, संहिताके अन्तर्गत उपनिषद् नहीं है। बृहदारण्यकके प्रथम पृष्ठमें कहे गये वाजसनेयि-ब्राह्मण उपनिषद्का विशेष तात्पर्य है। मनीषि याज्ञवल्क्य ही वाजसनेयि थे। वाजसनेयि-ब्राह्मण शतपथ-ब्राह्मण है। क्योंकि. शतपथ-ब्राह्मणका वाजसनेयि—याज्ञवल्क्य-द्रष्टा हैं। इस प्रसङ्गमें जो ब्राह्मण-पद व्यवहार किया गया है उसके द्वारा संहिताकी व्यावृत्ति प्रदर्शित की गयी है। पहले ही कहा जा चुका है कि उपनिषद् ब्राह्मणके अन्तर्गत है, संहिताके अन्तर्गत नहीं; पर, आधुनिक युगके पाश्चात्य-मतके अनुयायी कोई-कोई विशेषज्ञ कहना चाहते हैं कि क्षत्रियोंसे ही ब्रह्मविद्या उत्पन्न हुई थी। परन्तु, बृहदारण्यक उपनिषद्की उक्तिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य ही समस्त ब्रह्मविद्याके आख्याता थे। क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद्के प्रारम्भमें कहा गया है कि समग्र ब्रह्मविद्याका प्रकाश वाजसनेयि—याज्ञवल्क्यने किया है।[2]

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपनिषद् शब्द का अर्थ क्या है इस प्रसङ्ग में भाष्यकार शंकराचार्य एवं वार्तिककार सुरेश्वराचार्यके कथन विशेष प्रणिधान-योग्य हैं। "उपनिषद्" शब्द, उप+नि+षद्+क्विप्से हुआ है। "षद्" धातुका

---

१. बृ० उ० २—६—१, २, ३
४—६—१, २, ३
६—५—१, २, ३, ४

२. ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः। 'उषा वा अश्वस्य' इत्येवमाद्या वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत्। तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते..........। बृ० उ० भा० पृ०—१।

अर्थ है विशरण, गति एवं अवसादन। "विशरण शब्दका अर्थ शिथिल करना एवं अवसादनका अर्थ विनाश करना है। 'उपनिषद्' शब्दमें षद्-धातुके ये तीन प्रकारके अर्थ विद्यमान हैं। इस प्रसंगमें सुरेश्वराचार्यने कहा है कि[१] शांकरभाष्यमें एवं अन्यत्र प्रामाणिक-शास्त्रमें 'उपनिषद्' शब्दसे ब्रह्मविद्याको ही समझना चाहिए। क्योंकि. 'उपनिषद्' शब्दका योगार्थं ब्रह्मविद्यामें ही विद्यमान है। भाष्यकार शंकराचार्यने स्वयं उपनिषद् शब्दका अर्थ ब्रह्मविद्या ग्रहण किया है।

भाष्यकार शंकरका अनुसरणकर सुरेश्वराचार्यने भी उपनिषद् शब्दके अभिधार्थ, अवयवार्थं अथवा यौगिकार्थंका ही प्रदर्शन किया है। यदि उपनिषद् शब्दका रूढ़ अर्थ समझाया जाय तो वह वेदका अंश विशेष समझा जायगा। प्रश्न हो सकता है कि उपनिषद् शब्दके रूढ़ार्थ-को छोड़कर क्यों योगार्थंका ग्रहण किया गया है? इसके उत्तरमें सुरेश्वराचार्यने कहा है कि[२] उपनिषद् शब्दमें 'उपसर्गका अर्थ सामीप्य है। यह प्रत्यगात्मा-जीवात्मामें पर्यवसित होता है। 'नि' शब्द भी षद् धातुके प्रदर्शित तीन प्रकारके अर्थंका विशेषण है। आशय यह है कि उप-निषद् शब्दमें कोई समुदाय शक्ति प्रसिद्ध नहीं है। समुदाय-शक्तिके द्वारा लब्ध जो अनादिकालसे प्रसिद्ध अर्थ है उसीको रूढ़ अर्थ कहा जाता है। जब उपनिषद् शब्दका कोई समुदाय-अर्थ प्रसिद्ध नहीं है तब रूढ़ार्थंकी कोई शंका ही नहीं हो सकती है।

इस विषयको और भी स्पष्ट करते हुए सुरेश्वराचार्यने कहा है कि[३] ये उपनिषद् जीवात्माको अपास्तद्वय-ब्रह्मके समीपमें ले जाकर भेद-विषयिणी-अविद्या एवं अविद्या-प्रसूत कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रभृति-संसारका विनाश करता है; इसलिए, इसका नाम है 'उप+नि+षद्'। 'षद्'

---

१. अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः।
तत्रैव चास्य सद्भावादभिधार्थस्य तत्कृतः ॥ ३ ॥ स० वा०

२. उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते।
त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ॥ ४ ॥ स० वा०

३. उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।
निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेद् ॥ ५ ॥ स० वा०

धातुका विशरण=शिथिलीकरण अर्थ ग्रहणकर उपनिषद् शब्दका प्रथम प्रकारका अर्थ प्रदर्शित किया गया है। सुरेश्वराचार्यने इस प्रसंगमें विशरण=शिथिलीकरणका हनन-रूप अर्थ ग्रहण किया है।

'षद्' धातुका गतिरूप अर्थ ग्रहणकर उपनिषद् शब्दका द्वितीय प्रकारका अर्थ प्रदर्शित किया गया है। सुरेश्वराचार्यने कहा है कि[1] अनर्थके मूल=स्वस्वरूपके अज्ञानको नष्टकर यह भेदरहित परब्रह्मको जीवरूपमें प्राप्त करा देता है; इसलिए, इसका नाम उपनिषद् है। इस प्रसंगमें 'नि' उपसर्गका अर्थ है अनर्थका मूल=स्वस्वरूपके अज्ञानको नष्टकर (नि=निहत्य) भेद-रहित परब्रह्मको जीवरूपमें प्राप्त कराना। कारण, 'उप' उपसर्गका अर्थ है 'प्राप्त कराना'। यही 'षद्' धातुका गतिरूप अर्थ है— ब्रह्मको जीवरूपता प्राप्त कराना। इस प्रसङ्गमें कहे गये स्वस्वरूपके अज्ञानसे ब्रह्म-विषयका अज्ञान समझना चाहिए। ब्रह्म-विषयिणी-विद्या ब्रह्म-विषयक-अज्ञानको विनाशकर ब्रह्मको ही प्रत्यक् अर्थात् जीव-स्वरूपमें ज्ञात करा देती है। अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्तमें जिस विषयका ज्ञान होता है उस विषयका अज्ञान निवृत्त हो जाता है। समान-विषयक ज्ञान एवं अज्ञानमें विरोध होता है। ब्रह्म जीव-स्वरूप है और अज्ञानके कारण ब्रह्म-स्वरूप-जीवमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व अध्यस्त होता है।

'उपनिषद्' शब्दमें जो 'षद्' धातु है उसके प्रथम प्रकारके अर्थको ग्रहणकर 'उपनिषद्' शब्दका ब्रह्मविद्या-रूप-अर्थ प्रदर्शित किया गया है। 'षद्' धातुके द्वितीय प्रकारके अर्थके द्वारा भी उपनिषद् शब्दका ब्रह्म-विद्यारूप-अर्थ ही प्रदर्शित किया गया है। यह कहा जा चुका है कि ब्रह्म-विषयिणी-अविद्याको विनाशकर ब्रह्मको जीव-स्वरूपमें ज्ञात करा देता है; इसलिए, इसको 'उप+नि+षद्' कहा जाता है। इस प्रकार उपनिषद्को ब्रह्मविद्या शब्दसे कहा जाता है। कारण, वह निःशेष-रूपसे प्रवृत्तिके हेतुभूत रागादिके मूल अविद्याका विनाशकर प्रवृत्ति-

---

१. निहत्यानर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम्।
गमयत्यस्तसंभेदमतो वोपनिषद्भवेत् ॥ ६ ॥ स० वा०

हेतु रागादिका विनाश करता है।[१] आशय यह है कि प्रवृत्तिका हेतु हैं रागादि एवं रागादिका मूल है अविद्या। ब्रह्मविद्या-अविद्याकी विरोधी होनेके कारण ये उपनिषद् साक्षात् अविद्याको विनाश करते हैं और अविद्याके विनाश होनेसे अविद्या-मूलक राग-द्वेषादिका भी विनाश हो जाता है। उपनिषद् शब्दके इस तृतीय प्रकारके अर्थमें 'नि' उपसर्गका 'निःशेष-रूपसे प्रवृत्ति-हेतु-समूहोंको, इस प्रकारके अर्थमें ग्रहण किया गया है। फिर, उपनिषद् शब्दमें जो 'षद्' धातु है उसका अर्थ अवसादन-रूप माना गया है और इससे उपनिषद् शब्दके द्वारा पूर्वोक्त-रूप ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन किया गया है। उपनिषद् शब्दकी प्रदर्शित तीन प्रकारकी व्युत्पत्तियोंमें 'क्विप्' प्रत्ययका अर्थ 'षद्' धातुके उक्त त्रिविध अर्थका कर्त्ता हैं। 'नि' उपसर्ग प्रदर्शित तीन प्रकारके उपनिषद् शब्दके अर्थमें विशेषण है (नि=विशेषण)।

प्रश्न होता है कि उपनिषद् शब्द तो वाक्यात्मक-ग्रन्थको समझाता है—फिर ऐसी स्थितिमें इसका अर्थ ब्रह्मविद्या कैसे सम्भव है ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'उपनिषद्' शब्दका ब्रह्मविद्यामें शक्ति एवं ग्रन्थमें लक्षणा समझना चाहिए। अगर ब्रह्मविद्या एवं 'उपनिषद्' इन दोनोंमें ही 'उपनिषद्' शब्दको शक्ति स्वीकार की जाय तब तो 'उपनिषद्' शब्दमें नानार्थकी कल्पना होती है जो कि अन्याय है। क्योंकि अभियुक्तोंकी उक्ति इस रूपमें है कि एक ही शब्दके अनेक अर्थोंकी कल्पना करना अन्याय है, पर प्रकृत स्थलमें नानार्थ-कल्पनाका कोई अवकाश नहीं है क्योंकि एकत्र शक्ति एवं अन्यत्र लक्षणा स्वीकार की गयी है। जैसे आयुवर्धक घृतमें आयु शब्दका प्रयोग किया जाता है और जीवनका साधन लांगल (हलवाहा) में भी जीवन शब्दका प्रयोग है। इसी प्रकार ब्रह्मविद्याके प्रतिपादक वाक्यमें 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग किया गया है।

इसी आशयको सुरेश्वराचार्यने स्पष्ट-रूपसे प्रकाशित करते हुए कहा

---

१. प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः।
यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषन्मता ॥ ७ ॥ स० वा०

है कि[1]—यथोक्त ब्रह्मविद्याका प्रतिपादक होनेके कारण वाक्यरूप-ग्रन्थ भी ब्रह्मविद्याके साथ अभेद-आरोप निबन्ध 'उपनिषद्' शब्दके द्वारा कहा जाता है। जैसे, जीवनका साधन लांगलमें जीवन शब्दका प्रयोग किया जाता है। 'लांगलं जीवनं' स्थलमें जैसे लांगल साधन है एवं जीवन साध्य तथा इस स्थलमें उपचारके द्वारा साधन लांगलमें साध्य-जीवन शब्दका व्यवहार होता है। इसी प्रकार प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादकमें अभेद मानकर प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्याका प्रतिपादक-ग्रन्थके साथ अभिन्नरूपमें प्रयोग किया जाता है। अर्थात् ब्रह्मविद्या एवं ग्रन्थ दोनों उपनिषद् शब्दके द्वारा निर्दिष्ट होते हैं।

अरण्यमें इसका अध्ययन किया गया है, इसलिए, इस ग्रन्थका नाम है आरण्यक; जैसे, तैत्तिरीय आरण्यक, ऐतरेय आरण्यक आदि। शब्दतः एवं अर्थतः बृहत् होनेके कारण इसका नाम है बृहदारण्यक। शब्दतः यह बृहत् है, यह तो श्रावण-प्रत्यक्षके द्वारा स्पष्ट है। अर्थतः बृहत् होनेका कारण है कि इसमें ब्रह्मविद्याके अन्तरंग एवं बहिरंग सभी साधनोंका विस्तृत-रूपसे प्रतिपादन किया गया है। सुरेश्वराचार्यने और भी कहा है कि[2] भाष्यकारने उपनिषद् शब्दकी व्युत्पत्ति-प्रदर्शनके ब्याजसे प्रकृतशास्त्रके उपयोगी सभी उपनिषदोंका एकमात्र प्रयोजन मुक्ति है—यह प्रदर्शित किया है। अर्थात् उपनिषद् शब्दके प्रयोगके द्वारा ब्रह्मविद्या एवं शास्त्र इन दोनोंका एक ही फल मोक्ष है—यही प्रदर्शन किया गया है।[3]

ज्ञानकाण्डमें अधिकारीका निरूपण

वेदमें दो काण्ड हैं—कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड। वेदके उपनिषद्-

---

१. यथोक्तविद्याबाधित्वाद् ग्रन्थोऽपि तदभेदतः।
भवेदुपनिषन्नामा लांगलं जीवनं यथा ॥ ८ ॥ स० वा०

२. इत्यादिनामव्युत्पत्तिच्छद्मना प्रकृतोचितम्।
सर्वोपनिषदामाह मुक्तिमात्रं प्रयोजनम् ॥ १० ॥ सं० वा०

३. संसारव्याविवृत्सुभ्यः संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये। सेयं ब्रह्मविद्योपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्। सेयं षडध्यायी अरण्येऽनूच्यमानत्वादारण्यकम्, बृहत्त्वात्परिमाणतो बृहदारण्यकम्। बृ० उ० भा० पृ० २

भाग वेदान्तको ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। कर्मकाण्डको समाप्त कर ज्ञानकाण्डका आरम्भ किया गया है। कर्मकाण्डके साथ अगर ज्ञान-काण्डका कोई सम्बन्ध न हो तब तो कर्मकाण्डको समाप्त करके ज्ञानकाण्डका प्रारम्भ नहीं किया जाता। कर्मकाण्डकी समाप्तिके बाद ही ज्ञानकाण्ड आरम्भ होता है—यह बात माध्यन्दिनीय-शतपथ-ब्राह्मणके अध्ययनसे स्पष्ट होती है। इसमें प्रवर्ग्यकाण्डको समाप्त करके ज्ञान-काण्डका आरम्भ किया गया है। कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड ये दोनों वेद-रूप हैं यह पहले ही कहा जा चुका है। जब, यह बात स्पष्ट है कि कर्मकाण्डके जो अधिकारी है उनमें विलक्षण ज्ञानकाण्डके अधिकारी होते हैं।[२]

भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि ज्ञानकाण्डमें वे ही व्यक्ति अधिकारी हैं जो संसारसे मुक्तिलाभ करनेके लिए इच्छुक हैं। ग्रन्थके अध्ययनका प्रयोजन अथवा फल कहनेसे अनायास ही उक्त ग्रन्थके अधिकारीका स्वरूप स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। क्योंकि पूर्वोक्त फल-कामी व्यक्ति ही अधिकारी होंगे; इसलिए, उपनिषद्-रूप ब्रह्मविद्याका फल मुक्ति है—ऐसा कहनेसे ही मुक्तिकामी व्यक्तिको अधिकारी समझा जाता है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें अधिकारी पुरुषोंको स्पष्टरूपसे समझानेके लिए भाष्यकार शंकराचार्यने 'संसारव्याविवृत्सुभ्यः' यही कहा है।

इस आशयको स्पष्ट करते हुए वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्यने कहा है कि[१] संसारका त्याग करनेके लिए जो इच्छुक हैं, जिनने सभी प्रकारके कर्मोका त्याग किया है एवं आत्माके साथ ब्रह्मका अभेद जाननेके लिए जो इच्छुक है उसी व्यक्तिको वेदान्तमें अर्थात् उपनिषदमें अधिकार है। इस प्रसंगमें कर्म शब्दके द्वारा कर्मकाण्ड-विहित दर्शपूर्ण-

---

२. मिथोविरोधसिद्ध्यर्थं कर्मज्ञानाधिकारिणाः।
संसारव्याविवृत्सुभ्य इत्युक्तिं भाष्यकृज्जगौ ॥ स० वा० ॥ ११ ॥

१. त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः।
जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता ॥ १२ ॥ स० वा०

मासादि प्रभृति कर्मको समझना चाहिए और संसार शब्दके द्वारा ऐह लौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकारका भोग समझाया गया है।

सुरेश्वराचार्यने और कहा है कि प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) के यथा स्वरूप अर्थात् ब्रह्मस्वरूपताका ज्ञानके लिए श्रुतिने भी 'एतमेव' इत्यादिके द्वारा सभी प्रकार सर्वकर्मत्यागीको ही ब्रह्मविद्यामें अधिकार कहा है। श्रुतिमें कहा गया है 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति'।[१] परिव्राजकगण इस लोककी अर्थात् आत्माकी इच्छा करके प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। इस श्रुतिवाक्यके द्वारा जिसने प्रव्रज्या ग्रहण किया है अर्थात् कर्म-त्याग किया है उसीको ब्रह्मविद्याका अधिकारी कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि सर्व-कर्म-त्यागी तथा प्रत्यगात्माके यथार्थ-स्वरूपको जाननेके लिए इच्छुक व्यक्ति ही ब्रह्मविद्यामें अधिकारी है।[२]

इस प्रसंगमें सुरेश्वराचार्यने और भी स्पष्ट कहा है कि आत्म विविदिषा (आत्माको जाननेके लिए इच्छा) को सिद्धिके लिए वेद-पाठ प्रभृति एवं ब्रह्मप्राप्तिके लिए वेद-पाठादिका त्याग ही कारण है।[३] यह 'ईप्सन्ति' इस श्रुतिके द्वारा ज्ञात होता है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन'[४] आदि बृहदारण्यकवाक्यसे ज्ञात होता है कि विविदिषा उत्पत्तिके प्रतीक अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि होकर आत्मज्ञान-विषयिणी, इच्छा उत्पन्न होनेके प्रति वेदानुवचन और यज्ञानुष्ठान कारण है। आत्मज्ञानके प्रति वे सब कारण नहीं हैं। अतएव आत्मविषयिणी-ज्ञानकी इच्छा उत्पन्न होनेके बाद वेदानुवचनादिक और कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। इसलिए, उन सबका त्याग ही करना चाहिए। यज्ञादि कर्म-त्याग ब्रह्म-ज्ञानका साक्षात् हेतु है

---

१. बृ० उ० ४।४।२२

२. ऐतमेवेति च तथा प्रत्यग्याथात्म्यवित्तये ।
सर्वकर्मत्यजं प्राह श्रुतिर्विद्याधिकारिणम् ॥ १३ ॥ स० वा०

३. प्रत्यग्विविदिषासिद्धयै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मवाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीति श्रुतेर्बलात् ॥ १४ ॥ स० वा०

४. बृ० उ० ४।४।२२

ईप्सन्तिइस श्रुति अथवा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकम् ईप्सन्तः प्रव्रजन्ति'[1] इस श्रुति-वाक्यके द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त समर्थित होता है। ब्रह्मावाप्ति अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार करनेके लिए प्रव्रज्या सर्व-कर्म-त्याग ही हेतु है।

इस प्रसंगमें यह बात उल्लेखनीय है कि जो आत्म-ज्ञानेच्छु हैं उसके लिए परिव्राज्य—अर्थात् सर्व-कर्म-त्यागके लिए भाष्यकारने कहा है। आशय यह है कि आत्मज्ञानेच्छु भी परिव्राज्य ग्रहण करेगा और इसका नाम है 'विविदिषा संन्यास।' इस प्रकरणमें भाष्यकारने 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकम् इच्छन्तः प्रव्रजन्ति' बृहदारण्यकके इस वाक्यका उल्लेख किया है। इस विषयपर आगे विचार किया जायगा। इस प्रसंगमें आनन्दगिरिने कहा है कि कर्मकाण्डमें स्वर्गादिका भी संसार-परवश-नरपशु अधिकारी हैं। ज्ञानकाण्डमें संसारसे जो मुक्तिकी इच्छा करते हैं वही विरक्त-पुरुष अधिकारी हैं।

विषय, प्रयोजन एवं सम्बन्ध

अब प्रश्न होता है कि अधिकारीका भले ही निरूपण हुआ है, किन्तु, जबतक विषय—प्रयोजन एवं सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता तब तक तो बृहदारण्यक-भाष्यका आरम्भ नहीं हो सकता। इसलिए, भाष्यकारने कहा है कि प्रमातृता प्रभृति कर्तृत्वादि अनर्थरूप संसार है। इस संसारका कारण है आत्मविषयिणी-अविद्या। इसकी निवृत्तिका साधन है ब्रह्मके साथ आत्माका अभेद-ज्ञान। ब्रह्मात्मैकत्व-ज्ञान-प्रतिपादनकी जो विद्या है उसी की अप्रतिबद्ध (बाधा रहित) प्राप्तिके लिए यह बृहदारण्यक-भाष्य आरम्भ किया गया है।

आशय यह है कि अज्ञान संसारका निदान है। अज्ञान ही संसारका मूल है। इसलिए, अज्ञानरूप निदानके साथ अनर्थरूप संसारकी निवृत्ति ही अध्यात्म-शास्त्रका प्रयोजन है। इसे प्राप्त करनेका उपाय ब्रह्मके साथ आत्माका अभेद-ज्ञान है। ब्रह्म और जीवात्माका अभेद अविद्याके द्वारा आवृत है और इससे ब्रह्मके साथ आत्माका अभेद-ज्ञान न रहनेके कारण अर्थात् भेद-ज्ञानके कारण ही यह संसार प्रवृत्त होता है। ब्रह्मके साथ जीवात्माका अभेद अर्थात् ऐक्य अध्यात्म-शास्त्रका विषय है। ब्रह्मके साथ जीवात्माका जो अभेद-ज्ञान है एवं अविद्याके

१. श० ब्रा० १४।६।२५ पृ० १०९०

साथ संसारका निवृत्तिरूप जो फल है, इन दोनोंमें उपाय और उपेय भाव-सम्बन्ध है। पूर्वोक्त ज्ञान उपाय है एवं पूर्वोक्त फल उपेय है बृहदारण्यक-भाष्यरूप अध्यात्म-शास्त्र और जीवके साथ ब्रह्मका अभेद ज्ञान, इन दोनोंमें विषय-विषयिभाव सम्बन्ध है। शास्त्र-विषयी ए ब्रह्म और जीवका अभेद-ज्ञान-ऐक्य-ज्ञानशास्त्र आरम्भ करने योग्य है।

इस प्रसङ्गमें आनन्दगिरिने कहा है कि विषय—प्रयोजन, सम्बन्ध आदिका ज्ञान शास्त्रमें प्रवृत्तिके लिए अङ्गरूपसे कहे जानेपर भी उ प्रयोजनीय विषय प्रभृतिमें प्रयोजन ही प्रधान है। अभियुक्त लोग कहते हैं कि सभी शास्त्रोंका अथवा किसी कर्मका जबतक कोई प्रयोजन नहीं कहा जाता है तब तक वह शास्त्र या कर्म किसके द्वारा गृहीत होता है अतः शास्त्रारम्भके उपायभूत प्रयोजनको ही 'उपनिषद्' शब्दके व्युत्पत्ति-प्रदर्शनके द्वारा भाष्यकारने भी प्रयोजनका ही व्युत्पाद किया है।[1]

---

१ कर्मकाण्डे हि स्वर्गादिकामः संसारपरवशो नरपशुरधिकारी। इह तु संसा 'राद्यावृत्तिमिच्छन्तो विरक्ताः। न च वैराग्यं दुर्वचं शुद्धबुद्धेर्विवेकिनो ब्रह्म लोकान्ते संसारे तत्संभवात्।

उक्तं हि—'शोध्यमानं तु तच्चित्तमीश्वरार्पितकर्मभिः।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्याशु सुनिर्मलम्॥ इति।

अतो यथोक्तविशिष्टाधिकारिभ्यो वृत्तेरारम्भः संभवतीत्यर्थः। तथाऽ त्रिषयप्रयोजनसंबन्धानामभावे कथं वृत्तिरारभ्यते तत्राऽऽह संसारहेत्विति प्रमातृताप्रमुखः कर्तृत्वादिरनर्थः संसारस्तस्य हेतुरात्मविद्या तन्निवृत्ति साधन ब्रह्मात्मैकत्वविद्या तस्याः प्रतिपत्तिरप्रतिबद्धायाः प्राप्तिस्तदर्थं वृत्ति रारभ्यत इति योजना। एतदुक्तं भवति। सनिदानानर्थनिवृत्तिः शास्त्र प्रयोजनम्। ब्रह्मात्मैक्यविद्या तदुपायः। तदैक्यं विषयः। सम्बन्धो ज्ञा फलयोरुपायोपेयत्वम्। शास्त्रतद्विषययोर्विषयविषयित्वं तदारभ्यं शास्त्रमिति प्रयोजनादिषु प्रवृत्त्यं-गतयोक्तेष्वपि सर्वव्यापाराणां प्रयोजनार्थत्वात् प्राधान्यम्। उक्तं हि—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते 'इति॥

तथाच शास्त्रारम्भौपयिकं प्रयोजनमेव नामव्युत्पादनद्वारा व्युत्पादयति।
बृ० उ० भा०टी० पृ०

बृहदारण्यक-भाष्यके विषयके प्रसंगमें सुरेश्वराचार्यने कहा है[1] कि जीव और ब्रह्मका ऐक्य ही इसका विषय है और इसके ज्ञानके लिए ही भाष्यकारने कहा है कि 'संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये'—संसारके कारण-अविद्याकी निवृत्तिका साधन जो ब्रह्मात्मैकत्वका ज्ञान है उसी की प्राप्तिके लिए भाष्यकारने कहा है 'संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये।' सुरेश्वराचार्यने और कहा है कि जीव और ब्रह्मकी एकात्मकताको छोड़कर उपनिषद्=वेदान्त=वाक्य-समूहोंका और दूसरा कोई भी विषय नहीं होता है। इसलिए, यह जीवात्माका ब्रह्मके साथ भेद-प्रतीतिके मूलभूत-अज्ञानको विनाश करता है। ब्रह्म और जीवात्माका ऐक्य-ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। यह आहार्यारोप नहीं है, बल्कि, यह प्रमा-ज्ञान है। इसलिये, ब्रह्मका जीवके साथ ऐक्यज्ञान तद्विषयक-अज्ञानका नाशरूप-फल अवश्य स्वीकार करना चाहिए।[2]

सुरेश्वराचार्यने बृहदारण्यक-भाष्यके प्रारम्भ करनेके प्रयोजन=फल=प्रदर्शित करते हुए कहा है कि संसारका कारण अविद्या है और जिस ज्ञानसे अविद्याका विनाश होता है उस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए यह उत्कृष्ट-वेदान्तोपनिषद्यत्नपूर्वक आरम्भ किया गया है।[3] भाष्यकार शंकराचार्यका भी यही प्रयोजन है।

इस प्रसङ्गमें सुरेश्वराचार्यने और भी कहा है कि जीवात्माके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानसे ही जीवात्मा-विषयक अज्ञान विनष्ट हो जाता है। आत्म-विषयक-अज्ञानको नाश करनेमें आत्म-स्वरूपके ज्ञानको छोड़ अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं है। ज्ञानकर्मसमुच्चयवादियोंका कथन है कि कर्मापेक्ष आत्मज्ञान ही आत्म-विषयक अज्ञानका नाशक है। यह,

१. उक्ताधिकारविषयप्रतिपत्त्यर्थमीरितम्।
संसारहेत्वितिवचः स्फुटन्यायोपबृंहितम् ॥ १५ ॥ स० वा०

२. ऐकात्म्यविषयान्नान्यो वेदान्तवचसां यतः।
लभ्यते विषयः कश्चित्तद्धीस्तस्मात्तमोपनुत् ॥ १६ ॥ स० वा०

३. संसारकारणाविद्याध्वंसकृज्ज्ञानलब्धये।
प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा ॥ १७ ॥ स० वा०

ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद, अद्वैत-वेदान्तका अभिप्रेत नहीं है। इसलिए, ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादके निराकरण करनेके लिए वार्त्तिककारने कहा है कि केवल आत्मस्वरूप-ज्ञान ही आत्मविषयक-अज्ञानका विनाश करता है। कर्म साक्षात् ज्ञानका विरोधी नहीं है; इसलिए, अज्ञानके नाशमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है। यदि कहा जाय कि कर्मकी अपेक्षा नहीं रहनेपर भी प्रसंख्यान अर्थात् ध्यानादि प्रभृतिको अपेक्षा होती है तो इसके उत्तरमें कहा गया है कि ध्यानादिकी भी अपेक्षा नहीं है। केवल आत्म-विषयक-ज्ञान ही आत्म-विषयक-अज्ञानका निवर्त्तक है।[1]

—: ० :—

१. प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत् ।
सा चाऽऽत्मोत्पत्तितो नान्यद्ध्वान्तध्वस्तावपेक्ष्यते ॥१८॥ स० वा०

द्वितीय अध्याय

कर्मकाण्डके साथ ज्ञानकाण्डका सम्बन्ध

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ज्ञानकाण्डका अधिकारी कर्मकाण्डके अधिकारीसे विलक्षण है। इसके अतिरिक्त भी एक बात उल्लेखनीय है कि कर्मकाण्ड नियत-पूर्वभावी है तथा ज्ञानकाण्ड नियत-परभावी। पूर्वभावी-कर्मकाण्डके साथ उत्तरभावी-ज्ञानकाण्डके सम्बन्धका विस्तृत-रूपसे प्रतिपादन स्वयं भाष्यकार शंकराचार्यने किया है।[1] कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड पूर्वोत्तरभावसे व्यवस्थित हैं। पूर्वगामी-कर्मकाण्ड नहीं रहनेसे ज्ञानकाण्डका उत्थान ही नहीं हो सकता है। इस प्रसङ्गमें आनन्दगिरिने कहा है कि[2] भाष्यकारने कर्मकाण्डके साथ ज्ञानकाण्डका सम्बन्ध कहनेके लिए जो प्रतिज्ञा की है वह अगर ज्ञानकाण्ड-वेदान्तका प्रामाण्य नहीं रहे तब तो व्यवस्थित-प्रामाण्य-कर्मकाण्डके साथ उसके सम्बन्ध विधानका अवसर ही नहीं रहेगा इसलिए, भाष्यकार पहले ज्ञानकाण्ड वेदान्तका प्रामाण्य प्रतिपादन करनेके पश्चात् ज्ञानकाण्ड-वेदान्तके साथ कर्मकाण्डका सम्बन्ध-विशेष कहना उचित समझकर ज्ञानकाण्ड-वेदान्तका प्रामाण्य साधन कर रहे हैं।

भाष्यकार कहते हैं कि[1] जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणके द्वारा अवगत नहीं होता है वैसे इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके उपायको काण्ड-द्वयात्मक वेद प्रकाशित करता है, क्योंकि यहीं देखनेमें आता है कि सभी पुरुषोंका निसर्गतः इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट परिहार ही अभिप्रेत है। इस आशयके प्रदर्शन क्रममें टीकाकार आनन्दगिरिने कहा है

१. सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्ति-परिहारोपायप्रकाशन-परः.........। इस प्रसंग में विशेष द्रष्टव्य बृ० उ० ४।४।२२ का शांकर-भाष्य।

बृ० उ० भा० पृ० ४

कि भाष्यकार शंकराचार्यके द्वारा व्यवहृत प्रत्यक्ष एवं अनुमान शब्दके द्वारा आगमसे अतिरिक्त सभी प्रमाणोंको समझना चाहिए। विशिष्ट वादियोंने प्रमाणोंकी संख्या भिन्न-भिन्न स्वीकार की है। इसलिए, प्रत्यक्ष एवं अनुमान शब्दके द्वारा आगमातिरिक्त सभी प्रमाणोंको समझना चाहिए। इस प्रसंगमें प्रत्यक्ष अनुमान शब्दोंसे आगमातिरिक्त सभी प्रमाणों का उपलक्षण समझना चाहिए। आशय यह है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान आगमातिरिक्त सभी प्रमाणों को समझा रहा है। आगमातिरिक्त-प्रमाण-समूहोंके द्वारा जिस इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारका उपाय प्रकाशित नहीं होता है उनका काण्डद्वयात्मक वेद अथवा आगम प्रकाशक है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः[१]' इस अध्ययन-विधिके द्वारा समग्र वेदके अध्ययनको कर्त्तव्यता प्रतिपादित हुई है और उस अध्ययनकालमें यह अवगत होता है कि इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायको जो आगमातिरिक्त प्रमाणोंसे अवगत नहीं होता है, वेद ही प्रकाशित करता है।

इसका निष्कर्ष प्रतिपादन करते हुए टीकाकार आनन्दगिरिने कहा है कि[२] कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डद्वयात्मक वेद प्रमाणान्तरके द्वारा अज्ञात जो इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायादि हैं उनको ज्ञापित करता है और इसलिये, अज्ञात-वस्तुका ज्ञापक होनेके कारण दोनों काण्डका प्रामाण्य समान है। जो अज्ञात ज्ञापक है वही प्रमाण है— यही दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। प्रमाणको तभी प्रमाण स्वीकार किया जाता है जब वह अज्ञात-वस्तुका ज्ञापक होता है। ज्ञात-वस्तुका पुनः ज्ञापन करानेसे प्रमाणका प्रामाण्य विघटित हो जाता है। कर्म एवं ज्ञानकाण्ड रूप वेद पूर्वोक्त अज्ञात-इष्टोपायादि के ज्ञापक हैं। इसलिए, इन दोनों काण्डोंका प्रामाण्य समान-रूपसे व्यवस्थित है।

---

१. तै० आ०········ २।१५।१

२. सर्वोऽपीति। प्रत्यक्षानुमानाभ्यामित्यागमातिरिक्तप्रमाणोपलक्षणार्थम्। एषां ऽर्थोऽध्ययनविध्युपात्तः सर्वोऽपि काण्डद्वयात्मको वेदो मानान्तरानधिगतं यदिष्टोपायादि तज्ज्ञापनपरस्तथाचाज्ञातज्ञापकत्वाविशेषात्तुल्यं प्रामाण्यं काण्डयोरिति। बृ० उ० भा० टी० पृ० ४।

आनन्द गिरिने भाष्यकार शंकराचार्यकी पूर्वोक्त उक्तिकी भिन्न प्रकारसे योजना कर कर्मकाण्ड एवं ज्ञान-काण्डरूप वेदका प्रामाण्य व्यवस्थित किया है। इश प्रसंगमें भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त 'वेद' शब्द भाव-साधन-व्युत्पत्तिसे 'वेदन' अर्थात्, 'अनुभव'-ब्रह्म-स्वरूपानुभव'का प्रतिपादक है। 'ब्रह्म-स्वरूपानुभव' शब्द प्रमाणको छोड़कर अन्य प्रमाणोंसे प्राप्त नहीं होता। क्योंकि, ब्रह्मस्वरूपानुभव रूपादि-हीन होनेके कारण वह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं हो सकता। वे शब्द-प्रमाणमात्र-वेदके ही विषय हैं। इसलिए श्रुतिमें कहा गया है कि[1]—विज्ञानस्वरूप ब्रह्म प्रमाणान्तरके अविषय है। यह ब्रह्मस्वरूपानुभव ही, इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायस्वरूप हैं, क्योंकि, ब्रह्मस्वरूपानुभव ही इष्टोपायके रूपमें अवस्थित है। इस विषयमें श्रुतिने कहा है—'सचच त्यचचाभवत्'[2]

इस प्रसंगमें भाष्यकार शंकराचार्यके द्वारा व्यवहृत 'प्रकाशन' शब्दका अर्थ है 'प्रकाशक' अनुभव स्वरूप-ब्रह्म सभीका प्रकाशक है। क्योंकि, उपनिषत्में कहा गया है कि उसकी प्रकाशरूपतासे सभी प्रकाशमान होते हैं—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'।[3] अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तमें विश्व-ब्रह्माण्डमें कहीं प्रकाश नहीं है, अनुभवस्वरूप ब्रह्ममात्र प्रकाशरूप है, और उसका प्रकाशके द्वारा जड़-प्रपंच प्रकाशित होता है।[4] भाष्यकार शंकराचार्यने जो 'पर' शब्दका व्यवहार किया है उसका आशय है पूर्वोक्त अनुभवस्वरूपब्रह्म अविद्या एवं तत्कार्यके अतीत है। और इसे ही विरजः पर अकाशात्[5] इत्यादि श्रुतिमें 'पर' शब्दके द्वारा कहा गया है।

अब निष्कर्ष यह हुआ कि 'वेद' पदके द्वारा वेदनीय 'चिदेक-स्वभावः' प्रत्यक-धातु ही कार्य-कारणात्मक प्रपंच है। क्योंकि, श्रुतिमें

---

१. केनोप०···· १-१-३, वृ०उ०-२।४।१४, श्वे०उ० ३।११
२. तै० उ०·················३।६।९
३. कठोप० २.२।१५, मुण्डकोप० २।२।१०, श्वे० उ०·········६।१४
४. तस्यभासा सर्वमिदं विभाति—२।२।१५—कठोप० मुण्डकोप० २।२।१०
५. छा० ब्रा०···· १४।७।२।२३, बृ० उ० ४।४।२३

कहा गया है कि 'आत्मैवेदं सर्वम्'[१] अर्थात् ये सब आत्मा ही है। इस विचारसे यह सिद्ध होता है कि यथोक्त अनुभवस्वरूप ब्रह्मका प्रकाश कर ज्ञानकाण्डात्मकवेदान्त-वाक्य अर्थात् उपनिषद्-कर्मकाण्डके प्रतिपादक विधि-वाक्यके समान हीं प्रमाण है। आशय यह है कि वेदका विधिभाग-यज्ञादिका सर्वसाधनत्व ज्ञापन कराकर प्रमाणरूपमें गृहीत होता है, क्योंकि, यज्ञादि-क्रिया जो स्वर्गका साधन है यह प्रत्यक्षादि-प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। क्योंकि, स्वर्गका सब साधन यज्ञ है—यह पुरुषसे दुर्विज्ञात है। यह मात्र आगम-वेदके द्वारा ही परिज्ञात होता है। इसलिए, यज्ञादिके स्वर्ग साधनत्वरूप अज्ञात विषयका ज्ञात कराकर कर्मकाण्डका विधि वाक्य जिस प्रकार प्रमाण होता है उसी प्रकार प्रत्यक्षादिका सर्वथा अविषय पूर्वोक्त अनुभवस्वरूप-ब्रह्मका प्रतिपादक ज्ञानकाण्डात्मक-वेदान्त अर्थात् उपनिषद्-वाक्य भी प्रमाण है, क्योंकि, वेदान्त वाक्य भी अज्ञात-ज्ञापक है।[२]

आनन्दगिरिने पूर्वोक्त भाष्यका आशय अनेक प्रकारसे भी प्रकट किया है।[३] अथवा, प्रत्यक्षादि-प्रमाणके द्वारा अज्ञात इष्ट प्राप्ति

१. छा० उ० ७।२५।२

२. अथवा वेदनं वेदोऽनुभवः स च शब्देतरमानायोग्यो रूपादिहीनत्वात्। 'एतदप्रमेयम्' इति हि श्रुतिः। स चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायस्तस्यैव तत्तदात्मनाऽवस्थानात्।' सच्चत्यच्चाभवत्' इत्यादिश्रुतेः। स च प्रकाशनः सर्वप्रकाशकत्वात्। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्, इति श्रुतेः। स च परोऽविद्यातत्कार्यातीतत्वात्। 'विरजः पर आकाशत्' इत्यादि श्रुतेः। एवं रूपो वेदपदवेदनीयश्चिदेकरसः प्रत्यग्धातुरेव सर्वोऽपि कार्यकारणात्मकः प्रपञ्चः 'आत्मैवेदं सर्वम् इति श्रुतेः। तथा च यथोक्तं वस्तु प्रकाशयन्तो वेदान्ता विधिवाक्यवत्प्रमाणमिति। बृ० उ० भा० टी० पृ० ४

३. 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः 'इत्यादि भाष्यका पंक्तिकी योजना आनन्दगिरिने तीन प्रकारसे की है। प्रथम दो प्रकार की योजना प्रदर्शित की जा चुकी है, अब तृतीय प्रकारकी योजनाका प्रदर्शन किया जा रहा है।

एवं अनिष्ट-परिहार आदिका जो उपाय है—वह ब्रह्मस्वरूप है। उसी ब्रह्मस्वरूप पूर्वोक्त इष्ट प्राप्ति आदिके उपायके प्रकाशनपरक सभी वेद हैं। क्योंकि, पूर्वोक्त इष्ट प्राप्ति प्रभृतिके अज्ञात उपाय जो ब्रह्म स्वरूप हैं—उसे ही कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड द्वयात्मक-वेद प्रकाश करता है। इसलिए अज्ञात ज्ञापक होनेके कारण सम्पूर्ण वेद प्रमाण हैं। इसमें वैलक्षण्य यह है कि कर्मकाण्ड यज्ञादि-कर्मानुष्ठान-प्रयुक्त चित्त शुद्धिके द्वारा ब्रह्म साक्षात्कारमें आराद् उपकारक है। बृहदारण्यक वार्तिककार सुरेश्वराचार्यने कहा है कि वेदानुवचनादि कर्म कलाप आत्माके जाननेकी इच्छाके लिए ही विहित हुआ है।[1] श्रुतिमें कहा गया है कि वेदानुवचन एवं यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा आत्मज्ञान-विषयिणी इच्छाकी उत्पत्ति होती है। परन्तु, वेदानुवचन एवं यज्ञादि कर्मानुष्ठानके द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होनेपर ही आत्म-विषयिणी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसलिए कर्मानुष्ठान ब्रह्म-साक्षात्कारमें साक्षात् उपकारक नहीं है। परन्तु, चित्त-शुद्धिके द्वारा ब्रह्माधिगतिमें उपकारक है और ज्ञानकाण्ड ब्रह्म साक्षात्कारमें साक्षात् उपकारक है। क्योंकि, परम-पुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार उपनिषद्से होता है—यही वेद-वाक्यमें कहा गया है। इस विषयमें वेदकी उक्ति है कि—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'।[2]

अब प्रश्न होता हैं कि 'आराद् उपकारकका क्या आशय है ?'

इसके उत्तरमें कहा गया है—श्रुतिमें दर्शपूर्णमास-नामके एक यज्ञके अनुष्ठानका विधान हुआ है। इस यज्ञानुष्ठानमें प्रजादि नामसे प्रसिद्ध कतिपय अंगकर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है। इन सब अङ्ग कर्मोंको आराद् उपकारक कर्म कहा जाता है। व्रीहि (धान)—प्रभृति कतिपय द्रव्यादिके द्वारा पूर्वोक्त प्रयाजादि अङ्ग कर्मका अनुष्ठान होता है। व्रीहि-प्रभृति द्रव्यादिके लिए प्रोक्षण (जल सिक्त करना), अवहनन (कूटना) प्रभृति कतिपय अनुष्ठान विहित है। इन सब अनुष्ठानको 'सन्निपत्त्योपकारक' कहा जाता है। अत एव जो कर्म प्रधानरूपसे विधीयमान होते हैं इन सबका

१. स० वा० १४
२. कठोप० २।१५ एवं, गुह्यकाल्युप०………३९।

नाम है आराद् उपकारक, जैसे, प्रयाजादि, और उस प्रधान कर्मके निष्पादक जो द्रव्यादि हैं—उन द्रव्यादिके उद्देश्यसे विधीयमान-कर्म सन्निपत्योपकारक है, जैसे, व्रीहि प्रोक्षण अवहनन इत्यादि प्रकृत स्थलमें ब्रह्माधिगति दर्शपूर्णमासादिके स्थानापन्न हैं एवं कर्मानुष्ठान सन्निपत्योपकारक और अन्तःकरण-विशुद्धि आराद् उपकारक कर्म हैं। ये दोनों ब्रह्माधिगतिरूप प्रधान कर्मके उपकारक हैं। ब्रह्मसाक्षात्कारमें अन्तःकरण-विशुद्धि साक्षात् उपकारक है और कर्मानुष्ठान सन्निपत्योपकारक है। निष्कर्ष यह हुआ कि कर्मकाण्डके समान ज्ञानकाण्डका भी प्रामाण्य सुव्यवस्थित है।[१]

कर्मकाण्डमें अधिकारी सुलभ हैं। इसलिए, प्रश्न हो सकता है कि अधिकारीका सौलभ्य-प्रयुक्त कर्मकाण्डका प्रामाण्य अनायास सिद्ध है, किन्तु, ज्ञानकाण्डमें अधिकारी सुलभ नहीं रहनेके कारण इसका प्रामाण्य कैसे स्वीकार किया जायगा?

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड द्वयात्मक सम्पूर्ण वेद प्रत्यक्षादि-प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं होनेवाले इष्टकी प्राप्ति एवं अनिष्टकी निवृत्तिके उपायोंको प्रकाशित करनेवाला है। सभी पुरुषोंका स्वभावसे ही इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-निवृत्ति इष्ट है।[२] इसलिए, जिस प्रकार कर्मकाण्ड इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट परिहारके उपायका प्रकाशन होनेके कारण प्रमाण है उसी प्रकार ज्ञानकाण्ड भी इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायका प्रकाशन करनेके कारण प्रमाण है।

---

१. अथवा प्रत्यक्षादिनाऽनवगतो योऽसाविष्टप्राप्त्याद्युपायो ब्रह्मात्मा तस्य प्रकाशनपरः सर्वोऽप्ययं वेदः। तस्यैवाज्ञातत्वात्तत्र कर्मकाण्डकर्मानुष्ठानप्रयुक्तबुद्धिशुद्धिद्वारा ब्रह्माधिगतावारादुपकारकम्। 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इति श्रुतेः ज्ञानकाण्डं तु साक्षादेव तत्रोपयुक्तम्। 'परमपुरुषस्योपनिषत्स्वश्रवणात् सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च श्रुतेः। तद्युक्तं कर्मकाण्डवज्ज्ञानकाण्डस्यापि प्रामाण्यमिति। बृ० उ० भा० टी० पृ० ४

२. सर्वपुरुषाणां निसर्गत एवं तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्। बृ० उ० भा० टी० पृ० ४

इस आशयको प्रस्फुटित करते हुए आनन्दगिरिने कहा है[1] कि हमें सुख हो, दुःख न हो, यह सभी पुरुषोंकी इच्छा तो शास्त्रोपदेश विना ही स्वभावतः सिद्ध है। सभी पुरुषोंमें अनवच्छिन्न-परिच्छेदरहित-सुख-मात्रमें अभिलाषा होती है और सुखमात्र ही मोक्ष है। 'सुख'को आनन्द शब्दके द्वारा भी व्यक्त किया जाता। सुखरूप मोक्षके अभिलाषी-पुरुष ज्ञानकाण्डमें अधिकारी हैं। इसी कारणसे ज्ञानकाण्डमें भी अधि-कारी-पुरुष सुलभ हो जाता।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सभी पुरुषोंकी सुखादि-मात्रमें अभिलाषा स्वभावतः विद्यमान है और उसी सुखरूप-मोक्षमें प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान उत्पादन करके ज्ञानकाण्ड कैसे अप्रमाण हो सकता? प्रमाण वही है जो प्रमाणके विषयमें प्रमा-ज्ञान उत्पन्न करता। ज्ञान-काण्डका अभिधेय-अर्थ मोक्ष है। मोक्ष-विषयक यथार्थज्ञानका उत्पादक होकर ज्ञानकाण्ड अप्रमाण कैसे कहा जायगा? यह पहले ही कहा गया है कि कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड द्वयात्मकवेद प्रत्यक्ष एवं अनुमानके द्वारा अवगत इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायके प्रकाशक हैं। आशय यह है कि प्रत्यक्षतः इष्ट-विषयमें दृष्टि-प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपाय-का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे ही सिद्ध होता और प्रत्यक्ष-परिदृष्ट विषयमें इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायका ज्ञान करानेके लिए आगम अर्थात् वेदके अन्वेषण करनेका प्रयोजन नहीं है। अदृष्ट-विषयमें इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायके ज्ञानमें ही वेदकी अपेक्षा है।[2]

इस विषयका स्पष्टीकरण देते हुए आनन्दगिरिने[3] पूर्वपक्षरूपमें

---

१. सुखं मे स्याद् दुःखं मा भूदिति स्वभावतः शास्त्रं विना सर्वेषां पुरुषाणाम-नवच्छिन्नसुखादिमात्रेऽभिलाषोपलम्भात्तन्मात्रस्य च मोक्षत्वात्तत्कामिनो ज्ञानकाण्डाधिकारिणः सुलभत्वात्तस्मिन्प्रमां स्वार्थविषयामादधत्कथं तद-प्रमाणमिति ? बृ० उ० भा० टी० पृ० ४

२. दृष्टविषये चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सिद्धत्वा-न्नाऽऽगमान्वेषणा। बृ० उ० भा० टी० पृ० ५

३. ननु वेदस्य कार्यपरतया प्रमाण्यात्कर्मकाण्डवत्काण्डान्तरस्यापि कार्यपरतया प्रामाण्यमेष्टव्यमिति नेत्याह दृष्टविषय इति। बृ० उ० भा० टी० पृ० ४

एक प्रश्न उपस्थापन कर उसके समाधानके द्वारा भाष्यकारका ही सिद्धान्त समर्थित किया है। प्रश्न इस प्रकार है—भाष्यकारके अनुसार प्रत्यक्ष अनुमानादिके द्वारा दृष्ट विषयक इष्ट प्राप्ति-प्रभृतिके उपायका ज्ञान होता है तथा आगम अर्थात् वेदके द्वारा अदृष्ट-विषयक (अर्थात् जन्मान्तरमें) इष्ट प्राप्ति-प्रभृतिके उपायका ज्ञान होता है। इस प्रकार दृष्ट इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायोंका ज्ञान उत्पन्न कर प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दो प्रमाण अवस्थित हैं और अदृष्ट-विषयक इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपायोंका ज्ञान उत्पन्न कर आगम-वेद प्रमाणरूप अवस्थित है। लेकिन, वेदकार्य अर्थात् कर्मानुष्ठानका प्रतिपादक होनेके कारण ही प्रमाण है। कार्य, साध्य, निस्पाद्य प्रभृति शब्द एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। कार्य अर्थात् कर्मानुष्ठानके प्रतिपादक सभी वेद-वाक्योंका प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। कार्य या यज्ञादि कर्मानुष्ठानके द्वारा सम्पादित जो अभ्युदय या स्वर्गरूप फल प्राप्त होता उसका ज्ञान वेद-वाक्यसे ही हो जाता है। यज्ञादि स्वर्गके साधन हैं—यह परिज्ञात करानेका सामर्थ्य प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणमें नहीं। जो वेद-वाक्य किसी कार्य अथवा साध्यका प्रतिपादन करता वह वेद-वाक्य अज्ञात-ज्ञापक होनेके कारण प्रमाण है। लेकिन, जो वेद-वाक्य सिद्धब्रह्मादि वस्तुका प्रतिपादक है वह प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि, सिद्ध वस्तुका प्रतिपादक वह वेद-वाक्य अज्ञात-ज्ञापक नहीं है। अतः उसका प्रामाण्य व्याहत हो जाता। जब साध्य-यज्ञादि-कार्यका प्रतिपादक वेद-वाक्य ही प्रमाण है तब ज्ञानकाण्ड कार्यका प्रतिपादक होकर ही प्रमाण होगा। इसलिए, जैसे वेदके कर्मकाण्डका प्रामाण्य यागादिकार्यका प्रतिपादक होनेके कारण स्वीकार किया जाता है वैसे ही ज्ञानकाण्ड भी कार्यका प्रतिपादक होकर ही प्रमाण होगा, कहना यही उचित है।

पूर्वोक्त प्रश्नका समाधान आनन्दगिरिने इस प्रकार किया है—क्रिया, कारक, फल, एवं इतिकर्त्तव्यता—इनमें जो कोई कार्य इष्ट प्राप्ति-प्रभृतिका उपाय है वह विषय पुरुषोंकी व्युत्पत्तिके समयमें ही प्रत्यक्षादि-प्रमाणके द्वारा सिद्ध होता है। इसलिए, पूर्वोक्त कार्यसमूहोंके अन्यतम जो इष्ट प्राप्ति-प्रभृतिके उपायका ज्ञान है, जब वह प्रत्याक्षादि-प्रमाणके

द्वारा सिद्ध हो जाता, तब इसके लिए आगम अर्थात् वेदरूप प्रमाणका अनुसन्धान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। कारण, पूर्वोक्त कार्योंके अन्यतम जो इष्ट प्राप्ति-प्रभृतिके उपायका ज्ञान है वह लोक-व्यवहार और वेदमें परस्पर भिन्न नहीं होता। क्रिया, कारकादिकी व्युत्पत्ति-संकेत-जब गृहीत होती है तब इष्ट प्राप्ति-प्रभृतिका उपाय भी प्रत्यक्षः ज्ञात हो जाता। पूर्वोक्त कार्यसमूहोंका ज्ञान लोक-व्यवहारसे ही अगर सिद्ध नहीं होता तब तो वे अलौकिक बन जाते और इससे पूर्वोक्त कार्य-समूहोंमें लोक-व्यवहारके द्वारा व्युत्पत्ति नहीं होती। पूर्वोक्त क्रिया, कारकादि कार्योंकी व्युत्पत्ति अर्थात् संकेत-ग्रह प्रत्यक्षादि ही से होता है, इसका दृष्टान्त लोक-व्यवहारसे हो दिया जा सकता है। जैसे 'कोई व्यक्ति कुठारके द्वारा वृक्षच्छेदन करता है' इस स्थलमें छेदन क्रिया है, कुठार करणकारक है, वृक्षका द्विधा विदीर्ण होना फल है तथा कुठारका उद्यमन निपातन इत्यादि व्यापार है। क्रिया-कारक प्रभृतिकी व्युत्पत्ति, संकेत, ग्रहण लोक-व्यवहारसे अगर नहीं होता तो वे अलौकिक बन जाता और अलौकिक शब्दमें लौकिक पुरुषोंकी व्युत्पत्ति कैसे उत्पन्न होगी ?

लोक-व्यवहारके द्वारा किस पदका क्या अर्थ है यह व्युत्पत्ति अगर नहीं होती तब तो पदकी व्युत्पत्तिकी सम्भावना किसी उपायसे भी नहीं रहती। इसलिए, पूर्वपक्षकी उक्ति कि 'वेदका कर्मकाण्ड कार्य-कर्मानुष्ठानका प्रतिपादक है और कार्यको प्रतिपादनकर वेदका कर्मकाण्ड भाग प्रमाण होता है' सर्वथा अनुचित है। क्योंकि, यह पहले ही अव्युत्पन्न पुरुषके संकेत-ग्रहणके समयमें किसी वाक्यको सुनकर क्रिया-कारकादिमें उसकी व्युत्पत्ति होती है और इसलिए, पूर्वपक्षी कार्यादिके ज्ञानके लिए जो वेदतक अनुधावन किये हैं—इसका कोई प्रयोजन नहीं है। इसका कारण पहले कहा जा चुका है। यह तो अनुभव सिद्ध है कि कार्यादि-पदका लोक-व्यवहारमें अगर सङ्केत गृहीत नहीं हुआ है तब वह कार्यादिका बोधक नहीं हो सकता। जब स्थिति ऐसी है कि लोक-व्यवहारके द्वारा व्युत्पत्ति-कालमें क्रियादि-कार्य इष्ट प्राप्तिका उपाय है—यह प्रत्यक्ष-प्रमाणके द्वारा ज्ञात होता है तब तो ऐसा कहना सर्वथा

अयुक्तिक है कि वेदका कर्मकाण्ड-भाग कार्यका प्रतिपादक होकर प्रमाण है।[1]

अब यहाँ एक प्रश्न होता है; यदि मान लिया जाय कि वेदका कर्मकाण्ड-भाग कार्यका प्रतिपादनकर प्रामाण्य लाभ नहीं करता है, क्योंकि कार्यादि पदकी व्युत्पत्ति लोक-व्यवहारसे ही सिद्ध होता है, तब तो वेदके ज्ञानकाण्डमें प्रयुक्त ब्रह्मादि-पदकी भी, लोक-व्यवहारमें व्युत्पत्ति गृहीत नहीं होनेके कारण वह भी किसी अर्थका बोधक नहीं हो सकता। अव्युत्पन्न-पद तो किसी अर्थका बोधक नहीं हो सकता है। लोक-व्यवहारमें तो ब्रह्म-पदकी व्युत्पत्ति गृहीत नहीं हुई है। इसलिए ज्ञानकाण्डमें प्रयुक्त ब्रह्म-पद भी तो अपने अर्थका व्युत्पादक हो नहीं सकता।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि लोक-व्यवहारके द्वारा ब्रह्म-पदकी व्युत्पत्ति गृहीत होती है। ब्रह्ममें, ब्रह्मत्वरूपमें एवं आत्मत्वरूपमें लोक-व्यवहारके द्वारा व्युत्पत्ति प्रसिद्ध है। तत्तत् सामान्यरूप[2] उपाधि-विशिष्टादि-पदोंकी व्युत्पत्ति लोक-व्यवहारमें अनायास ही गृहीत हो

१. क्रियाकारकफलेतिकर्तव्यतानामन्यतमस्मिन्कार्ये समीहितप्राप्त्याद्युपायभूते व्युत्पत्तिकाले प्रत्यक्षादिसिद्धे तथाविधकार्यधियोऽन्यथालब्धत्वात्तत्र नाऽऽगमेनानुसंधेयः। न हि लोकवेदयोस्तद्भिद्यते। अलौकिके तस्मिन्नव्युत्पत्तिप्रसङ्गात्। न चाव्युत्पन्नानि पदानि बोधकान्यतिप्रसङ्गात्।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ४-५

२. काव्य प्रकाशमें कहा गया है कि सङ्केत व्यक्ति (Individual)में नहीं वरन् उपाधिमें गृहीत होता है। उपाधि व्यक्तिका धर्म है। यह धर्म जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञारूप है—यही महाभाष्यकार, पतञ्जलिका आशय है। लेकिन मीमांसकोंका कथन है कि सङ्केत केवल जातिमें ही होता है। यद्यपि यह विषय गम्भीर एवं विचारणीय है तथापि प्रकृतमें अप्रासङ्गिक होनेके कारण इस विषयके पर्यालोचनसे विरत हो रहा हूँ।

काव्य प्रकाशकार मम्मटने कहा है कि उपाधि दो प्रकार की है :—

(१) वस्तुधर्म—जो व्यक्तिमें स्वभावतः आश्रित है तथा

(२) वक्तृयदृच्छा सन्निवेशित धर्म—जो व्यक्तिमें वक्ताकी इच्छाके अनुसार आरोप किया जाता है, जैसे, संज्ञा। पूर्वोक्त वस्तुधर्मके

सकती है। 'विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म[१]' इत्यादि ज्ञानकाण्ड-रूप-उपनिषद् वाक्यके विज्ञानादि पदमें विज्ञानत्वादि सामान्यधर्म पुरस्कारमें सङ्केत गृहीत होता है, और, वे विज्ञानादि-पद लोक-व्यवहारके अतीत अखण्ड जिसमें सामान्य-विशेष भाव अस्तमित हो गया है ऐसे प्रत्यक् ब्रह्म अर्थात् जीवाभिन्न ब्रह्मको लक्षणा वृत्तिके द्वारा समझाता है। आशय यह है कि ब्रह्म-वस्तु ही वेद-प्रमाणक है—ब्रह्म-वस्तु-विषयक प्रमृतिको उत्पादनकर वेद प्रमाण होता है। पूर्वपक्षीका यह कथन है कि 'वेद कर्मका बोधक होकर प्रमाण है' समीचीन नहीं।[२]

वेदान्त-वेदके ज्ञानकाण्डका प्रमाण्यके विषयमें पर्यालोचन कुछ समयके लिए छोड़ दिया जाय। ज्ञानकाण्ड सिद्ध-वस्तु-ब्रह्मका बोध करा-कर प्रमाण होता है, अथवा, साध्य-यज्ञादि-कार्यका बोधक होकर प्रमाण होता है इसपर विचार छोड़ देनेपर भी यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि वेदका जो कर्मकाण्ड-भाग है वहाँ भी देहसे व्यतिरिक्त सिद्ध-वस्तु-आत्माके अस्तित्वादिके विषयमें प्रमाण आवश्यक है। कर्मकाण्ड

उपाधि पुनः दो प्रकारमें विभक्त है :—(क) सिद्ध—परिनिष्पन्न या विद्यमान, तथा (ख) साध्य—जिसे निष्पादन करना पड़ेगा, जैसे क्रिया। पूर्वोक्त सिद्धवस्तुधर्म भी दो प्रकारके हैं :—(१) पदार्थका प्राणप्रद। इसका आशय यह है कि पदके द्वारा प्रतिपादित अर्थका जो प्राण-सत्ताके आधायक है, उसे ही पदार्थका प्राणप्रदरूप सिद्ध-वस्तु धर्म कहा जाता है, जैसे जाति। (२) विशेषाधानहेतु—जिसके द्वारा एक वस्तुका दूसरो वस्तुसे भेद किया जाता है जैसे, गुण। निष्कर्ष यही हुआ कि उपाधि संज्ञा, क्रिया, जाति एवं गुण रूप है। वह द्रव्य अथवा व्यक्तिका धर्म है। जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञामें ही सङ्केत किया जाता है। का० प्र० पृ० ४१-४४।

१. बृ० उ० ३।९।७

२. न च ब्रह्मण्यपि तुल्या व्युत्पत्त्यनुपपत्तिः। तस्मिन्ब्रह्मत्वेनाऽऽत्मत्वेन च प्रसिद्धेः। तत्तत्सामान्योपाधौ विज्ञानादिपदानां व्युत्पत्तेः सुकरत्वात्। तानि चालौकिकमखण्डं प्रत्यग्ब्रह्म निर्लुंठितसामान्यविशेषं लक्षणया बोधयन्ति। तस्माद्ब्रह्मैव वेदप्रमाणकं न कार्यमिति भावः।

बृ० उ० भा० टी० पृ०—५

अगर सिद्ध-वस्तु आत्माके अस्तित्वका बोधक नहीं हो जाय तब तो वेदके कर्मकाण्ड-भागका भी प्रामाण्य नहीं रहेगा; क्योंकि, यज्ञादि अनुष्ठान करनेके बाद ही यज्ञादि-अनुष्ठाता पुरुषको स्वर्गादिफल लाभ नहीं होता है।

मृत्युके वाद भविष्यत्कालमें उत्पन्न होनेवाले देहके साथ सम्बन्ध करनेवाली आत्माके अस्तित्वका ज्ञान अगर नहीं हो जाय तब तो वेदके कर्मकाण्डके द्वारा विहित पारलौकिक-फलके जनक-कार्यमें भो प्रवृत्ति निःसंदिग्धरूपमें नहीं हो सकती। इसलिए, जो कर्मकाण्डके प्रामाण्यको अक्षुण्ण रखनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें यह मानना पड़ेगा कि मृत्युके बाद भविष्यत्कालमें देहके साथ सम्बन्धित होनेवाली सिद्ध-वस्तु-आत्मा तथा सिद्ध-वस्तु स्वर्गादिका बोधक होकर कर्मकाण्ड प्रामाण्य लाभ करता है। साध्य यज्ञादि-कार्यके बोधक होकर ही वेद-वाक्य प्रमाण होता है इसमें कोई नियम नहीं है। इसलिए, वेदका ज्ञानकाण्ड-भाग वेदान्त भी अपने प्रतिपाद्य सिद्ध-वस्तु ब्रह्मका बोधक होकर प्रमाण होता है। वेद-वाक्य साध्य-मात्रका ही प्रतिपादक होकर प्रमाण होगा इसमें कोई नियम नहीं है—यह पहले ही कहा जा चुका है। इसलिए, भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि[1] मृत्युके बाद जन्मान्तर-सम्बन्धी आत्माके अस्तित्वका ज्ञान अगर नहीं रहे तब तो मृत्युके बाद जन्मान्तरमें इष्टकी प्राप्ति एवं अनिष्ट-निवारणकी इच्छा नहीं हो सकती।

इसमें प्रश्न होता है कि आत्मा जन्मान्तरमें देहान्तर-सम्बन्धी होती है—यह ज्ञान नहीं रहनेपर भी यागादिमें प्रवृत्ति हो सकती है; क्योंकि, कर्मकाण्ड-स्थित विधि-वाक्यकी महिमा ही ऐसी है कि उससे जिन क्रिया-समूहोंका फल परिदृष्ट नहीं हुआ है उन प्रत्यक्षतः अदृष्टफल यागादि क्रियाओं में प्रवृत्ति होगी।

इसके उत्तर में कहा गया है कि आत्मा जन्मान्तर में देहान्तर-सम्बन्धी है इसका यथार्थज्ञान जबतक वेद एवं प्रमाणान्तरके द्वारा

१. न चासति जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वविज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छा स्यात्। स्वभाववादिदर्शनात्। तस्माज्जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते।

बृं० उ० भा० पृ० ४-५

नहीं होता है तबतक क्रिया-फलके भोक्ताके अस्तित्वका ज्ञान न रहनेके कारण कोई भी प्रेक्षापूर्वकारी व्यक्ति यागादिका अनुष्ठान नहीं करेगा। क्योंकि, यह देखनेमें आता है कि जो लोकायत मतानुयायी हैं वे न तो देह-व्यतिरिक्त आत्माके अस्तित्वको मानते हैं और न उन्हें यह मान्य है कि जन्मान्तरमें आत्मा देहान्तर-सम्बन्धी होती है इस कारण मृत्यु के बाद जन्मान्तरमें इष्ट प्राप्ति और अनिष्ठ-परिहार करनेकी इच्छासे वेद-वाक्यके द्वारा विहित यागादि-क्रिया-समूहोंमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जन्मान्तरमें देहान्तर-सम्बन्धी आत्माका ज्ञान नहीं रहनेसे पारलौकिक कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

इसमें प्रश्न होता है कि कर्मकाण्डरूप वेद में अवस्थित विधि-वाक्य समूह स्वर्गादिके साधन यागादि-कर्मका ही बोधक होता है। ये विधि-वाक्य समूह देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वका बोधक होकर प्रमाण नहीं हो सकते हैं; क्योंकि, तब तो वाक्य-भेद प्रसंग हो जायगा। आशय यह है कि एक ही विधि-वाक्य अगर याग तथा आत्माका प्रतिपादक हो जाय तब तो युगपद् एक ही वैदिक विधि-वाक्यका दो प्रकारके वाच्यार्थ लाभ हो जायेंगे। फलतः एक ही विधि-वाक्यके दो प्रकार अर्थ-लाभ करनेके लिए विभाजन करना होगा, इससे एक वाक्य पौरुषेय हो जायगा—पुरुष द्वारा निर्मित ही स्वीकार करना होगा। परन्तु, वेद-वाक्य अपौरुषेय है—यह वेदानुगामी जैमिनि प्रभृति आचार्यका सिद्धान्त है। इसलिए विधि-वाक्य यागादिके अतिरिक्त आत्माका प्रतिपादक नहीं हो सकता है।[१]

---

१. किंच तिष्ठतु वेदान्तप्रामाण्यं कर्मकाण्डेऽपि व्यतिरिक्तात्मास्तित्वादौ सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यमावश्यकम्। तदभावे तत्प्रामाण्यायोगात्। न हि भविष्यद्देह-सम्बन्ध्यात्मसद्भावानधिगमे पारलौकिकप्रवृत्तिविश्रम्भः। तस्मात्कर्मकाण्ड-प्रामाण्यमिच्छता सिद्धेऽर्थे भविष्यद्देहसम्बन्धिन्यात्मनि स्वर्गादौ च तत्प्रा-माण्यस्याभ्युपेयत्वात्कार्ये वेदप्रामाण्यानियमाद्वेदान्तानामपि स्वार्थे मानत्वं सिध्यतीत्याह—नचेति। ननु देहान्तरसम्बन्ध्यात्मज्ञानं विनापि विधिवशाद्-दृष्टार्थक्रियासु प्रवृत्तिः स्यादिति नेत्याह—स्वभावेति। यदाऽऽत्मा देहान्तर-सम्बन्धी शास्त्रान्मानान्तराच्च न प्रमितस्तदा भोक्तुरनवगमान्न प्रेक्षापूर्वकारी यागाद्यनुतिष्ठेत्। लोकायतस्य व्यतिरिक्तात्मास्तित्वमजानतो जन्मान्तरेष्टा-

इसके उत्तरमें कहा गया है कि देह-व्यतिरिक्त आत्माका ज्ञान अगर नहीं रहे तब जन्मान्तरमें इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके उपाय-स्वरूप जो कर्म है, उसके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और जब पारलौकिक-कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्तिकी उत्पत्ति नहीं होगी तब वेदके कर्मकाण्ड भागका जो प्रामाण्य है वह भी उपपन्न नहीं होगा। इसलिए यह समझना चाहिए कि विधि-वाक्य-समूहके दो प्रकार अर्थ विद्यमान हैं –(१) श्रुत्यर्थ और (२) आर्थ-अर्थ। विधि-वाक्यके द्वारा साक्षात् प्रतिपाद्य अर्थ जो यागादि-कर्म हैं उसे श्रुत्यर्थ कहते हैं एवं अर्थके द्वारा आक्षिप्त जो अर्थ आत्माके अस्तित्वपरक मिलता है उसे आर्थ समझना चाहिए। आशय यह है कि विधि-वाक्यका श्रौत अर्थ यागादि है एवं आर्थ-अर्थ आत्मा है। इस कारणसे भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि कर्मकाण्ड स्थित विधि-वाक्य जन्मान्तर-सम्बन्धी आत्माके अस्तित्व और जन्मान्तरकी इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपाय विशेष यागादिका निरूपण करनेमें प्रवृत्त होता है अर्थात् दोनोंका बोधक है। यागादि कर्मकाण्ड स्थित विधि-वाक्यका श्रौत अर्थ है तथा आत्माका अस्तित्व आर्थ-अर्थ है यह पहले ही कहा जा चुका है।

इसमें और बात यह है कि केवल विधि-वाक्य-समूहके द्वारा देह-व्यतिरिक्त-जन्मान्तर-सम्बन्धी आत्माका अस्तित्व अर्थतः आक्षिप्त नहीं होता; वरन्, साक्षात् श्रुति-वाक्यके द्वारा भी देह-व्यतिरिक्त, आत्माका अस्तित्व प्रतिपादित हुआ है।[१] इसमें आक्षेपके द्वारा देह-व्यतिरिक्त आत्माके अस्तित्वरूप अर्थ-लाभ करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। क

निष्टप्राप्तिहानिच्छया वैदिकक्रियास्वप्रवृत्तेर्दर्शनात्। अतो नातिरिक्तात्मज्ञानं विना सांपरायिके प्रवृत्तिरित्यर्थः। ननु विषयः साधनविशेषं बोधयन्तो नातिरिक्तात्मास्तित्वादौ मानं वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यत आह—तस्मादिति।

बृ० उ० भा० टी० पृ०

१. अतिरिक्तात्मधियं विना पारलौकिकप्रवृत्त्यनुपपत्त्या कर्मकाण्डप्रामाण्यायोगादिति यावत्। विधीनां श्रुत्यर्थाभ्यामुभयार्थत्वमविरुद्धमित्यर्थः। न केवलं विधिभिरेवार्थादाक्षिप्तमतिरिक्तात्मास्तित्वं किंतु श्रुत्याऽपि स्वमुखेनोक्तमित्याह—ज्ञेयमिति।

बृ० उ० भा० टी० पृ०

श्रुतिमें महात्मा यमसे नचिकेता प्रश्न कर रहे हैं कि[1] मरे हुए मनुष्यके विषयमें कोई तो कहते हैं कि परलोकगामी आत्मा विद्यमान है और फिर कोई-कोई कहते हैं कि आत्माका परलोक गमन नहीं है[2]--इस प्रकार उपक्रमकर परलोकगामी आत्मा विद्यमान है एवं देह-व्यतिरिक्त आत्माको उपलब्ध करना चाहिए--इस प्रकार निर्णय किया गया है।

ऐसे ही कठ श्रुति[3]के द्वितीय अध्यायमें कहा गया है कि "जीव ब्रह्मको नहीं जानकर मृत्युको प्राप्त करता है और मृत्युके बाद संसार लाभ करता है,[4] इस प्रकार उपक्रमकर कहा गया है कि" अपने-अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कोई-कोई देहधारी शरीर धारण करनेके लिए योनिद्वारको प्राप्त होते हैं और कोई-कोई देही स्थाणु-वृक्ष, पाषाण-आदि स्थावर-भाव प्राप्त करते हैं[5]। पूर्वोक्त कठोपनिषद्के उपक्रम एवं उपसंहारकी एकरूपताप्रयुक्त (उपक्रममें जिस रूप कहा गया है उसी रूप उपसंहारके द्वारा) देह-व्यतिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें तात्पर्य कहकर बृहदारण्यक-वाक्यका भी देह-व्यतिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें तात्पर्य है--यही कह रहे हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में "स्वयंज्योतिः "इस रूपसे उपक्रम किया गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रसिद्ध जड़-वस्तु देहादिमें स्वयं ज्योतिष्ट्व सम्भावित नहीं है। इसलिए, बृहदा-

१. "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इत्युपक्रम्या-स्तीत्येवोपलब्धव्य इत्येवमादिनिर्णयदर्शनात् "यथा च मरणं प्राप्य" इत्युपक्रम्य—

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्"

इति च "स्वयं ज्योतिः इत्युपक्रम्य" तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इति च ज्ञापयिष्यामीत्युप-क्रम्य विज्ञानमय इति च व्यतिरिक्तात्मास्तित्वम्। तत्प्रत्यक्षविषयमेवेति चेत्। न वादिविप्रतिपत्तिदर्शनात्।

बृ० उ० भा० पृ० ५–६

२. कठोप०—१।१।२०
३. कठोप०—२।३।१३
४. कठोप०—२।१।१०
५. कठोप०—२।२।७

रण्यक उपनिषद्के ज्योतिर्ब्राह्मण[१]में जो "स्वयंज्योतिः" इस रूपसे जो आरम्भ किया गया है वह स्पष्टरूपसे देह इन्द्रियादि-व्यतिरिक्त आत्मांको विषय करता है। ऐसे ही "वह मृत व्यक्तिको पूर्वोपार्जित विद्या एवं कर्मके फलदान करनेके लिए अनुगमन करता है[२]। "उसने जन्मान्तरमें ज्ञान एवं कर्मका जिस रूपमें उपार्जन किया था उसीके अनुरूप फल मृत्युके बाद अनुभव करता है[३]।" इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्के शारीरिक-ब्राह्मण[४]के उपसंहार-वाक्यसे भी "देह-व्यतिरिक्त आत्माको जन्मान्तर सम्बन्ध प्रतिपादित हुआ है। यह सम्भव नहीं हो सकता है कि इस जन्ममें ही जब देहादि भस्मीभूत हो जाता है तब वह जन्मान्तके साथ सम्बन्ध करेगा। इसलिए, पूर्वोक्त ज्योतिर्ब्राह्मण एवं शारीरिक-ब्राह्मणके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि आत्मा देहादिव्यतिरिक्त है एवं जन्मान्तर-सम्बन्धी है।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्के अजातशत्रु-ब्राह्मणमें 'व्येवत्वा ज्ञापयिष्यामि[५]'—तुमको हम समझायेंगे—इस प्रकारसे उपक्रमकर कहा गया है कि देह-व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व है कारण, देहादि प्रत्यक्ष है जिसे जाननेके लिए जिज्ञासा नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष-सिद्धमें सन्देहका अवकाश कहाँ है ? अतः पूर्वोक्त जिज्ञासा देह-व्यतिरिक्त आत्माको ही विषय करता है—यही समझना चाहिए। अजातशत्रु-ब्राह्मणके उपसंहारमें जो कहा गया है 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः[६]' इत्यादि—इसमें विज्ञानमय विशेषणसे देह-व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व प्रदर्शन किया गया है। कारण, देहादिका विज्ञानमयत्व तो सम्भावित नहीं है। अतः अजात शत्रु ब्राह्मणमें भी उपक्रम और उपसंहारके द्वारा देह-व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व प्रतिपादित हुआ है।[७]

१. बृ० उ० ४।३
२. बृ० उ० ४।४।२
३. बृ० उ० ३।२।१३
४. बृ० उ० ४।४
५. बृ० उ० २।१।१५
६. बृ० उ० २।१।१६
७. उपक्रमोपसंहारैकरूप्यात्कठवल्लीनामतिरिक्तात्मास्तित्वे तात्पर्यमुक्त्वा बृहदारण्यकवाक्यस्यापि तत्र तात्पर्यमाह—स्वयमिति। न हि प्रसिद्ध जडत्वस्य देहादेः स्वयंज्योतिष्ट्वमिति ज्योतिर्ब्राह्मणगतोपक्रमस्तद्विषयो देहादिव्यतिरिक्तात्मानमधिकरोति। तं प्रेतं विद्याकर्मणी पूर्वोपार्जिते फलदानायानु-

पूर्वोक्त ज्योतिर्ब्राह्मण, शारीरक-ब्राह्मण एवं अजात शत्रु ब्राह्मणके उदाहृत श्रुति-वाक्योंको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है। कारण, जैमिनि प्रणीत औत्पत्तिके सूत्रमें 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः[१]'में उदाहृत श्रुति-वाक्योंके प्रमाण्यका व्यवस्थापन किया गया है।

प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त देहव्यतिरिक्त आत्मामें 'अहं' ज्ञान ही प्रमाण है; कारण, 'अहं' ज्ञानमें देहाकारका स्फुरण नहीं होता और 'अहं'--इस ज्ञानके द्वारा ही देहव्यतिरिक्त आत्माकी स्फूर्त्ति उपपन्न हो जायगी। इसलिए, देहव्यतिरिक्त आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करनेके लिए श्रुति-वाक्यकी कोई अपेक्षा नहीं। अतः देहव्यतिरिक्त आत्माके अस्तित्वको लेकर श्रुतिका प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जा सकता है।[२]

इसके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि देहव्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व 'अहं' प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता है। यद्यपि

गच्छतः। स च गत्वा ज्ञानकर्माणुगुणं फलमनुभवतीति शारीरकब्राह्मणगतो-संहारोऽपि जन्मान्तरसम्बन्धविषयः। नचात्रैव भस्मीभवतो देहादेर्जन्मान्तर-सम्बन्धो युक्तः। तेनाऽऽत्मा देहादिव्यतिरिक्तो जन्मान्तरसम्बन्धी सिद्धो ब्राह्मणाभ्यामित्यर्थः। अजातशत्रुब्राह्मणो च व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीत्युपक्रमो व्यतिरिक्तात्मास्तित्वविषयः। न हि प्रत्यक्षे देहादौ जिज्ञासाऽस्ति। तत्रै-वोपसंहारे 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः' इति विज्ञानमयविशेषणादतिरिक्तात्मा स्तित्वं दर्शितं न हि देहादेर्विज्ञानमयत्वंतस्मात्तदप्युपक्रमोपसंहाराभ्यां व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं गमयतीत्याह—ज्ञपयिष्यामीत्युपक्रम्येति। नचोदा-हृतानां वाक्यानामप्रामाण्यम्। तत्प्रामाण्यस्यौत्पत्तिकसूत्रे हेत्वविशेषादभ्यु-पेयत्वादिति भावः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ६

१. जैमिनि सूत्र—१।५

२. न हि देहान्तरसंबन्धिन आत्मनः प्रत्यक्षेणास्तित्वविज्ञाने लोकायतिका बौद्धाश्च नः प्रतिकूलाः स्युर्नास्त्यात्मेति वदन्तः। न हि घटादौ प्रत्यक्ष-विषये कश्चिद्विप्रतिपद्यते नास्ति घट इति। स्थाण्वादौ पुरुषादिदर्शन्नानेति चेत्। न। निरूपितेऽभावत्। न हि प्रत्यक्षेण निरूपिते स्थाण्वादौ विप्रति-पत्तिर्भवति। बृ० उ० भा० पृ० ६

देहव्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व, पूर्वपक्षीके अभिप्रायसे, 'अहं' ज्ञानका विषय हो सकता है, लेकिन, विषय होने पर भी क्या होगा ? कारण, पूर्वोक्त 'अहं' ज्ञान देहसे आत्माका जो भेद है, उस भेदको प्रकाश नहीं कर सकता है। कारण, अहं ज्ञान तो युक्ति, आगम तथा विवेकशून्य व्यक्तियोंको भी विद्यमान है। और इसीसे अगर देह-भिन्न आत्माका ज्ञान 'अहं' प्रत्ययसे उत्पन्न होना स्वीकार किया जाय तब तो यह भी स्वीकार करना होगा कि पूर्वोक्त युक्ति, आगम तथा विवेकशून्य व्यक्तियोंको भी ज्ञान होता है कि 'आत्मा देहसे भिन्न है।' जब साधारण व्यक्तिको भी 'आत्मा देहसे भिन्न है'--इस रूप ज्ञान होता है तब तो विद्वानोंकी बात ही क्या है ? उन लोगोंको भी 'आत्मा देहसे भिन्न है' इस विषयमें कुछ भी संशय नहीं होगा। परन्तु, वास्तविक स्थिति और ही है। वेद-विरोधी सभी नास्तिकवादी-वर्ग 'आत्मा देहसे भिन्न है' के विषयमें विवादका त्याग नहीं करते हैं। 'अहं' प्रत्यक्षमें देहान्तर-सम्बन्धी आत्माके अस्तित्वका अगर प्रत्यक्षतः ज्ञान होता तब तो लोकायतिक एवं बौद्ध 'आत्मा नहीं है' यह कहकर हमलोगोंके प्रतिकूल नहीं होते। कारण, घटादि जब प्रत्यक्षका विषय होता है तब किसीको संदेह नहीं होता कि 'घट नहीं है।' प्रत्यक्षका इस रूपकी महिमा है कि जो प्रत्यक्ष-ज्ञानका विषय होता है उसमें किसी प्रकारकी संदेह नहीं होती। अतः यह स्पष्ट है कि 'देह से भिन्न आत्मा' 'अहं' प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता।[१]

---

१. यथोक्तात्मन्यहंप्रत्ययो मानं तत्र देहाकारास्फुरणाद्व्यतिरिक्तात्मास्तित्वस्य तेनैव स्फूर्त्युपपत्तेरतो न तत्र श्रुतिप्रामाण्यमिति शङ्कतेतत्प्रत्यक्षेति। प्रत्यक्षस्य विषयोऽवकाशो यस्मिन्नित्यतिरिक्तात्मास्तित्वमुच्यते। यद्यपि व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं त्वदभिप्रायेणाहं-धीगोचरस्तथाऽपि न सा व्यतिरिक्तात्मनो गोचरयति युक्त्यागमविवेकशून्यानामहंप्रत्ययभाजां व्यतिरेकप्रत्ययप्राप्तौ विपश्चितां विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गादिति परिहरन्नि—न वदति। वेदप्रतिकूला वादिनो नास्तिका नैव विवादं मुञ्चन्तीत्याह—न हीति। तेषु प्रातिकूल्यसम्भावनार्थं विशेषणं नेत्यादि। इति वदन्तः सन्तो नोऽस्माकं प्रतिकूला न हि स्युरेवं वदनस्यैवासम्भवादध्यक्षविरोधादिति योजना।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ५

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रत्यक्षज्ञानके विषय पुरोवर्त्ती धर्मी में क्या वह स्थाणु है अथवा पुरुष है—इस प्रकार का संशय तो होता है। इसलिए, सिद्धान्ती जो कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष परिदृष्ट अर्थमें संशय नहीं होता है;'' इस रूप कहना तो व्यभिचार-दोष दुष्ट है; कारण पूर्वोक्त दृष्टान्त में धर्मी प्रत्यक्षका विषय है; परन्तु उसमें सन्देहका अभाव नहीं। जब हेतु विद्यमान रहनेपर भी साध्य विद्यमान नहीं रहता तो उसे व्यभिचारी हेतु समझना चाहिए। ऐसे ही प्रत्यक्षतः परिदृष्ट पाषाणादिमें गजादिका संशय होता है। इसलिए, सिद्धान्तीका यह कहना सर्वथा अनुचित है कि 'प्रत्यक्षतः' परिदृष्ट विषयमें संशय नहीं होता है।

इसके उत्तरमें सिद्धान्ती पूछते हैं कि पूर्वपक्षी इस प्रश्नके द्वारा क्या कहना चाहते हैं ? क्या प्रत्यक्षमात्रके विषयमें संशय नहीं होता है ? अथवा, प्रत्यक्ष-ज्ञानके द्वारा पृथक् रूपसे ज्ञात विषयमें संशय नहीं होता है ? इसमें प्रथम कल्प अनुचित है। कारण, वह कल्प तो हमलोग भी स्वीकार करते हैं। इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि आत्मा प्रत्यक्षमात्रका विषय होनेपर भी उसमें जो सन्देह होगा उससे निस्तार आपको प्रथम पक्षके अंगीकार करनेसे भी नहीं है। क्योंकि, आत्माके प्रत्यक्ष होनेपर भी उसमें जो सन्देह हो जाय तो उस सन्देहके निराकरणके लिए अब वेदके अन्वेषण करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि, प्रत्यक्षके द्वारा ही पूर्वोक्त सन्देहका निरसन हो जायगा जिससे आत्म-स्वरूपका निर्णय हो जायगा। इससे आत्म-विषयक विप्रतिपत्तिके निराकरणके फलस्वरूप आत्म-विषयक निर्णयात्मकज्ञान उत्पन्न हो जायगा। इसलिए, किसी भी स्थिति में 'आत्मा देहसे भिन्न है' इस ज्ञानको उत्पन्न करानेके लिए वेदान्वेषणकी कोई अपेक्षा नहीं होगी।

पूर्वपक्षीके इस रूप आशयको अनुधावनकर, सिद्धान्ती द्वितीय पक्षमें दोष प्रदर्शनकर रहे हैं। क्योंकि, प्रत्यक्षके द्वारा ही पूर्वोक्त संशयसे निरास होकर आत्मा देहसे भिन्न है 'ऐसा निर्णयात्मकज्ञान उत्पन्न हो जायगा— इस आशयसे भाष्यकारसे पूर्वोक्त द्वितीय विकल्पमें दोष प्रदर्शनकर रहे हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा 'स्थाणु' अथवा 'पुरुष' इन दोनोंमें एकका निश्चय हो जाता है, वहाँ उस स्थलमें पुरो-

वर्त्ती धर्मी 'क्या स्थाणु है अथवा पुरुष है' इस प्रकारका संशय नहीं हो सकता। संशय वहाँ ही होता है जहाँ संशयमें भासमान कोटिद्वय में स्थाणु तथा पुरुषमें उभय साधारण उच्चैस्तरत्वादि धर्मका प्रत्यक्ष होता है; परन्तु, स्थाणु अथवा पुरुषगत जो विशेष-व्याप्य-धर्म है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। पुरुषत्वका व्याप्य धर्म है करचरणादिमत्त्व एवं स्थाणुत्वका विशेष धर्म शाखापल्वादिमत्त्व। जहाँ पुरोवर्त्ती धर्मीमें कर-चरणादि विशिष्टके प्रत्यक्षसे पुरुष निर्णय होता है अथवा शाखा-पल्लवादि विशिष्टके प्रत्यक्षसे स्थाणु निर्णय होता है, वहाँ और संशय नहीं होता है। इस तरहका संशयमें भासमान जो-जो कोटि हैं—स्थाणुत्व एवं पुरुषत्व उनमें एकके विशेष धर्मका जब प्रत्यक्ष होता है तब उसमें और संशय नहीं होता। आशय यह है कि प्रत्यक्षके द्वारा जब दो पदार्थोंका भिन्न-भिन्न रूपसे ज्ञान होता है तब उसमें अभेदका संशय नहीं हो सकता। क्योंकि, प्रत्यक्ष-ज्ञान संशय-ज्ञानका सर्वथा निरसनकरके ही उत्पन्न होता है।[१]

१. प्रत्यक्षे विषये विप्रतिपत्त्यभावे दृष्टान्तमाह—न हीति। तत्र व्यभिचारं शङ्कते-स्थाण्वादाविति: प्रत्यक्षे धर्मिणि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विप्रतिपत्त्यु-रूपलम्भाच्च प्रत्यक्षे विप्रतिपत्त्यभावो व्यभिचारादिति शङ्कार्थः। आदिपदेन पाषाणादौ गजादिविप्रतिपत्तिः संगृह्यते। किं प्रत्यक्षमात्रे विप्रतिपत्तिः किं वा तेन विविक्ते प्रतिपन्ने। नाऽऽद्योऽङ्गीकारात्। न चैवमात्मनि प्रत्यक्षे विप्रतिपत्तावपि नाऽऽगमान्वेषणा। तेनैव तन्निरासेन तन्निर्णयादिति मन्वानो द्वितीयं दूषयति—नैत्यादिना। प्रत्यक्षतो विविक्तेऽर्थे विप्रतिपत्त्यभावं प्रपञ्चयति। बृ० उ० भा० टी० पृ० ६-७

तृतीय अध्याय

कर्मकाण्डके साथ ज्ञानकाण्डका सम्बन्ध

पूर्वानुवृत्ति

आत्माका स्थूल देहसे पृथकत्वका जो ज्ञान है वह प्रत्यक्षज्ञानका विषय नहीं हो सकता है—इसे प्रतिपादनकर, आत्माका सूक्ष्म देहसे भिन्नत्वका ज्ञान भी 'अहं' रूप प्रत्यक्ष-ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। अब इसे प्रतिपादनकर रहे हैं। प्रश्न हो सकता है कि आत्माका सूक्ष्म देहसे भिन्नत्वका जो ज्ञान है वह भी अहं रूप प्रत्यक्षज्ञानका विषय नहीं हो सकता है। इसमें प्रमाण क्या है ? इसके उत्तरमें भाष्यकारकी उक्तिका आशय यह है कि वैनाशिकगण-बौद्धगण, 'अहं' ज्ञानका अनुभव तो करते हैं परन्तु वे स्थूल देहातिरिक्त जो सूक्ष्म देह है उससे अतिरिक्त आत्माका नास्तित्व ही स्वीकार करते हैं। इसलिए, 'अहं' ज्ञानके द्वारा सूक्ष्मदेहातिरिक्त आत्माकी सिद्धि नहीं होती है।[1]

इसमें और बात यह है कि प्रत्यक्ष-ज्ञानका विषय रूपादि-विशिष्ट होता है और आत्मा रूपादिरहित है; इसलिए, आत्मा प्रत्यक्ष-ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। श्रुतिमें कहा गया है कि[2] अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्-आत्मा, शब्द, स्पर्श, रूपादि रहित है। रूपादिका जो आधार नहीं है वह प्रत्यक्ष-ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। इसलिए, देहादिसे अतिरिक्त रूपमें आत्माका अस्तित्व प्रत्यक्षके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अगर प्रत्यक्षके द्वारा देहसे पृथक्-रूपमें आत्मा सिद्ध होती तब तो आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी विप्रतिपत्ति नहीं होती। परन्तु, प्रकृतमें देहव्युतिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें जब सन्देह विद्यमान

---

१. वैनाशिकास्त्वहमिति प्रत्यये जायमानेऽपि देहान्तरव्यतिरिक्तस्य नास्तित्वमेव प्रतिजानते। तस्मात्प्रत्यक्षविषयवैलक्षण्यात्प्रत्यक्षान्नाऽऽत्मास्तित्वसिद्धिः। तथाऽनुमानादपि। वृ० उ० भा० टी० पृ० ७

२. कठोप० १।३।१५

है तब इससे सिद्ध होता है कि आत्माका अस्तित्व प्रत्यक्षके द्वारा प्रमाणित्त नहीं है।[१]

अब, मान लिया जाय कि देहादिव्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व प्रत्यक्ष-प्रमाणके द्वारा सिद्ध नहीं होता है, फिर भी, शंका हो सकती है कि अनुमान-प्रमाण के द्वारा देहव्यतिरिक्त आत्मा के अस्तित्वकी सिद्धि होगी। इस अनुमानको इस रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है :—

इच्छादि (पक्ष) किसी अधिकरणमें आश्रित होगा—(साध्य) कारण, वे गुण हैं (हेतु), जैसे-रूप है (दृष्टान्त)।

रूप गुण होनेके कारण वह अवश्य कहीं आश्रित होता है (क्वचिदाश्रिताः)। इस अनुमानके द्वारा जैसे अपने अधिकरणसे व्यतिरिक्त होकर इच्छादिगुण अपने अधिकरणमें आश्रित होता है वैसे ही आत्मा भी अपने अधिकरण-देहसे व्यतिरिक्त होकर देहादिमें आश्रित होती है, जैसे रूपादिगुणके सम्बन्धमें कहा जा सकता है।

लेकिन, इसके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि अनुमानके द्वारा भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इच्छादिको प्रत्यक्षकर जो अनुमान प्रदर्शन किया गया है उसका उपयोग आत्माके अस्तित्वमें ग्रहण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि, इच्छादिका अगर स्वातन्त्र्य स्वीकार किया जाय—किसीमें आश्रित नहीं है—ऐसा—स्वीकार किया जाय, तब तो इच्छादि-पक्षमें गुणत्वरूप-हेतु नहीं रहनेके कारण स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभास हो जायेगा। गुण परतन्त्र है, वह कहीं आश्रित अवश्य होता है—यह गुणका स्वभाव है। इच्छादिका यदि स्वातन्त्र्य स्वीकार किया जाय तब तो इच्छादि-पक्षमें गुणत्वरूप-हेतु

१. आत्मनः स्थूलदेहव्यतिरिक्तत्वं न प्रत्यक्षमिति प्रतिपाद्य सूक्ष्मदेहव्यतिरिक्तत्वमपि नाहं प्रत्ययग्राह्यमित्याह-वैनाशिकास्त्विति। ते खल्वहमितिधियमनुभवन्ति। तथाऽपि देहान्तरं स्थूलदेहातिरिक्तं सूक्ष्मं तत्र प्रधानभूताया बुद्धेरतिरिक्तस्याऽऽत्मनो नास्तित्वमेव पश्यन्ति। तन्नाहंधिया सूक्ष्मदेहातिरिक्तात्मसिद्धिरित्यर्थः। किञ्च प्रत्यक्षस्य विषयो रूपादिस्तद्राहित्यं तद्वैलक्षण्यं तदात्मनोऽस्ति 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्' इत्यादिश्रुतेः। न हि रूपादि तदाधारं विना प्रत्यक्षं क्रमते। बृ० उ० भा० टी० पृ०—

नहीं रह सकेगा और इससे स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभास हो जायेगा। अगर इच्छादिका पारतन्त्र्य स्वीकार किया जाय तब तो परस्पराश्रय-दोष हो जायगा। क्योंकि, इच्छादिका पारतन्त्र्य-सिद्ध होनेसे इच्छादिका किसी आधारमें आश्रितत्त्व-सिद्ध होगा और इच्छादिका किसी आधारमें आश्रितत्त्व-सिद्ध होनेसे इच्छादिका पारतन्त्र्य सिद्ध होगा। इच्छादिका जो आधार है वह तो पहलेसे सिद्ध नहीं है। उसका आधार अभी ही वर्तमान अनुमानके द्वारा सिद्ध किया जा रहा है। उसका आधार अगर पहलेसे ही सिद्ध रहता तब तो वह पहलेसे ही अपने आधारमें आश्रित रहनेके कारण परस्पराश्रयरूप-दोषकी सम्भावना नहीं होती। परन्तु, यह पहले ही कहा जा चुका है कि इच्छादिका आधार इस वर्तमान अनुमानके द्वारा ही साध्य है। वह पूर्वसे सिद्ध नहीं है। इसलिए, प्रदर्शित परस्पराश्रय-दोष दुर्निवार हो जायेगा। निष्कर्ष यह है कि इच्छादिको अगर परतन्त्र स्वीकार किया जाय तब इच्छादिका आश्रय अनिरूपित रहनेके कारण आश्रयासिद्ध-दोष हो जायेगा।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस प्रसंगमें परस्पराश्रय दोष विद्यमान है और परस्पराश्रय-दोष होनेके कारण आश्रयासिद्ध दोष हो जायेगा। पक्ष नहीं रहनेसे साध्यको किस आश्रयमें सिद्ध किया जायेगा? और भी बात यह है कि इस अनुमान-वाक्यमें प्रयुक्त 'क्वचित्' शब्दके द्वारा अगर आश्रयमात्रको समझा जाय तब तो सिद्ध-साधन-दोष हो जायगा। क्योंकि, इच्छादिका आश्रय मन है—यह तो सिद्ध है। सिद्धका साधन करनेसे महान् दोष हो जाता है। क्योंकि, अनुमानके द्वारा साध्यको पक्षमें सिद्ध किया जाता है। पक्षमें साध्य संदिग्ध होता है। जहाँ साध्य संदिग्ध है वहीं पक्ष है, यही पक्षका स्वरूप है। साध्य अगर पक्षमें सिद्ध रहे तब वह अनुमानके पक्षके रूपमें परिगणित नहीं हो सकता है। सिद्ध-साधन पक्षताका विघटक है; इसलिए, सिद्ध-साधन-दोष अनुमानका प्रतिरोधक है। अतएव अनुमान-वाक्यमें प्रयुक्त 'क्वचित्' शब्दके द्वारा अगर आश्रयमात्रका ग्रहण किया जाय तब तो मनको लेकर सिद्ध-साधन-दोष हो जायेगा।[1] अगर कहा

---

१. अतो न देहाद्यतिरिक्तात्मास्तित्वस्य प्रत्यक्षात्प्रसिद्धिरित्याहतस्मादिति। प्रत्यक्षतो विविक्ते विप्रतिपत्त्ययोगात्। प्रकृते च तद्दर्शनादिति यावत्।

जाय कि परिशेषानुमानके द्वारा इच्छादिके आश्रयरूपमें आत्मा सिद्ध हो जायगा और इसके द्वारा यही होगा कि इच्छादिके आश्रयरूपमें आत्मा अनुमान-सिद्ध है। इच्छादि आत्माका विशेष गुण है—यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त है। प्रश्न होता है कि परिशेषानुमानके द्वारा इच्छादिके आश्रय रूपमें आत्माकी सिद्धि कैसे होगी ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि इच्छादि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल और मन प्रभृति आठ द्रव्योंमें आश्रित नहीं हो सकता है। परन्तु इच्छादि जब गुण है तो उसे कहीं किसी द्रव्यमें आश्रित होना होगा। इसलिए, परिशेष-प्रयुक्त आत्मामें ही इच्छादि आश्रित होगी, जैसे शब्दमें[1] देखा जाता है।

अथेच्छादयः क्वचिदाश्रिता गुणत्वाद्रूपवदित्यनुमानादतिरिक्तात्मसिद्धिरिति नेत्याह—तथेति। नाऽऽत्मास्तित्वप्रसिद्धिरिति संबन्धार्थस्तथाशब्दः। अयं भावः—इच्छादीनां स्वातन्त्र्ये परस्पराश्रयत्वमाधारस्येदानीमेव साध्यमानत्वात्। क्वचिच्छब्देन चाऽऽश्रयमात्रवचने सिद्धसाधनत्वं मनसस्तदाश्रयस्य सिद्धत्वादात्मोक्तौ च दृष्टान्तस्य साध्यविकलतेति।

बृ० उ० भा० टी० पृ०

१. परिशेषानुमानके द्वारा शब्दके आश्रय रूपमें आकाशकी सिद्धि किस रूपमें होती है इसका विवरण अक्षपाद-सूत्रके वात्स्यायन-भाष्यमें कहा गया है। संक्षेपमें उसका आशय इस रूप है :—

शब्दः (पक्ष) आठ द्रव्यातिरिक्त आकाशरूप द्रव्याश्रित है (साध्य) कारण, वह आठ द्रव्यमें अयाश्रित होकर गुण है (हेतु); जहाँ साध्य अष्ट द्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व नहीं है वहाँ हेतु भी नहीं है, यथा गंध।

यह प्रदर्शितानुमान परिशेष-पदार्थ आकाशको विषय करता है इसलिए, इसको शेषवत् अनुमान कहा जाता है। इसका विवरण इस प्रकार है-

(१) शब्दः (पक्ष) क्वचिदाश्रिता—कहीं आश्रित होगा (साध्य) कारण, वह गुण है (हेतु)। इस अनुमानके द्वारा आश्रय रूपमें 'क्वचित्' पदके द्वारा सात प्रकारका पदार्थ उपस्थित होता है। इसमें आश्रयरूपमें प्रसक्त (प्राप्त) नौ प्रकारके द्रव्यको सहायक अनुमान-समूहके द्वारा निषेध कर देनेके बाद परिशेषप्रयुक्त शब्दके आश्रय रूपमें आकाश सिद्ध होता है। सहायक प्रतिरोध करनेवाले अनुमानका रूप इस प्रकार है—

परन्तु, इस परिशेषानुमानके द्वारा अगर इच्छादि गुणके आश्रय-रूपमें आत्माके अस्तित्वका अनुमान किया जाय तब तो दृष्टान्त साध्य-विकल हो जायेगा। इस अनुमानमें रूपको दृष्टान्त किया गया है। रूपमें आत्माश्रितत्व नहीं है और आत्माश्रितत्व पूर्वोक्त अनुमानमें साध्य

---

(२) शब्द (पक्ष) पृथ्वी, अप्, तेज, वायु—इनका विशेष गुण नहीं है (साध्य), कारण, वे अजावतद्रव्यभावी है (हेतु), यथा स्पर्शादि पृथ्वी, जल, तेज एवं वायुका गुण है। स्पर्शादि अपने आश्रय पृथ्वी, जल, तेज एवं वायुमें अवस्थान करता है। परन्तु शब्द ऐसा नहीं है। वह अजावतद्रव्यमें अवस्थान नहीं करता है। क्योंकि, शब्दका आश्रय शंखादि विद्यमान रहने पर भी शंखादिमें शब्दका अभाव देखा जाता है।

(३) शब्द (पक्ष) दिक्, काल एवं मनका गुण नहीं है (साध्य) कारण, वह विशेष गुण है (हेतु)।

आशय यही है कि दिक्, काल एवं मनमें विशेष गुण अवस्थान नहीं करता है।

(४) शब्द (पक्ष) आत्माका गुण नहीं है (साध्य), कारण, वह बहिरिन्द्रियग्राह्य है (हेतु)।

इन अनुमान-समूहोंके द्वारा शब्दके आश्रय-रूपमें प्रसक्त आठ द्रव्यका निषेध किया गया है अर्थात् इन आठ द्रव्योंमें शब्द नहीं रह सकता। मात्र यही नहीं, अन्यत्र यथा अन्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदिमें भी शब्द रहनेका कोई प्रसंग नहीं है। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव प्रभृतिमें गुण नहीं रह सकता है—यही वैशेषिकोंका मत है। इसलिए, शब्दका आश्रयत्व गुणमें प्रसक्त ही नहीं है। अब, अवशिष्ट रहता है मात्र गगनरूप द्रव्य और उसीमें ही शब्दका आश्रयत्व है। यह अनुमान इस रूपमें है—शब्द (पक्ष) अष्ट द्रव्य (साध्य) में अनाश्रित होकर भी यह गुण है (हेतु)। जहाँ पूर्वोक्त साध्यका अभाव है वहाँ हेतुका भी अभाव है, जैसे—गंधादि (व्यतिरेकी दृष्टान्त)। शब्दको आकाशका गुण सिद्ध करनेके लिए जो परिशेषानुमान प्रदर्शित किया गया है वह केवल व्यतिरेकी अनुमान है। इस प्रसंगमें न्यायभाष्यमें कहा गया है—'प्रसक्त प्रतिषेधे अन्यत्र प्रसंगात् शिष्यमाणे सम्प्रत्यय: परिशेष:।'

है। वह आत्माश्रितत्व-रूप-साध्य जब दृष्टान्त रूपमें नहीं है तब दृष्टान्त साध्य-विकल हो जायगा। दृष्टान्त उसीको कहा जाता है जहाँ साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति गृहीत होती है। इसे ही 'सपक्ष' भी कहा जाता। दृष्टान्तमें साध्यकी सत्ता अवश्य निश्चित रहनी चाहिए। अगर दृष्टान्तमें साध्य नहीं है तब तो साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति गृहीत नहीं हो पायेगी और व्याप्तिज्ञान नहीं रहनेके कारण अनुमान भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि, अनुमानमें व्याप्ति और पक्षधर्मता कारण है। इसलिए, इच्छादिके आश्रय रूपमें आत्माके अस्तित्वकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त परिशेषानुमानमें दृष्टान्त साध्य-विकल होनेके कारण वह अनुमान असत है। पूर्वोक्त परिशेषानुमान दोष-दुष्ट होनेके कारण इच्छादिके आश्रय-रूपमें आत्माकी सिद्धि नहीं की जा सकती है।

यहाँ प्रश्न होता है कि 'यः प्राणेन प्राणिति'[१] प्रभृति श्रुतिके द्वारा प्राणनादि-व्यापारको आत्माके अस्तित्वमें लिंग-हेतु कहा गया है और साध्यका अनुमापक लिंग वही हो सकता है जिसमें लिंगके साथ साध्यकी व्याप्ति गृहीत हुई है। पूर्वोक्त प्राणनादि-व्यापार-रूप लिंगके साथ साध्य-आत्माको व्याप्तिका ज्ञान प्रत्यक्षादिके द्वारा सिद्ध होनेके कारण यह निष्कर्ष होता है कि आत्मा प्रत्यक्ष-ज्ञानका ही विषय हो जाता है। इसलिए सिद्धान्तीकी उक्ति कि 'आत्माका ज्ञान वेद-वाक्यमात्रसे होता है' अनुचित है। इस आक्षेपके खण्डनमें सिद्धान्तीका कथन है कि पूर्वोक्त आपत्तिका कोई अवसर नहीं है; क्योंकि, श्रुतिमें प्राणनादि-व्यापारको जो आत्माके अस्तित्वमें लिङ्ग-रूपसे निर्देश किया गया है उसका आशय यह नहीं है कि आत्मा स्वतन्त्ररूपसे पूर्वोक्त लिङ्गके द्वारा अनुमेय है। निष्कर्ष यह है कि जो अचेतन पदार्थका व्यापार है वह चेतनके द्वारा अधिष्ठित होकर होता है। चेतनके द्वारा पूर्वमें अगर वह अधिष्ठित नहीं है तब अचेतनका स्वतन्त्ररूपसे व्यापार नहीं हो सकता है, जैसे रथादिका व्यापार। रथादि अचेतन होनेके कारण उसका व्यापार चेतनके अधिष्ठानपूर्वक होता है। पूर्वोक्त प्राणनादि-व्यापार भी अचेतनका व्यापार है। प्राण अचेतन है इसलिए, प्राणनादि-व्यापार भी चेतनके अधिष्ठान-

१. केनोप०— १।१।८ यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।

पूर्वक होगा। केवल इसी सम्भावनासे प्राणनादि-व्यापारको आत्माके लिङ्गरूपमें उपन्यास किया गया है। प्राणनादिरूप-व्यापार आत्माका निश्चयात्मकरूपसे अनुमापक लिङ्ग है—इस उद्देश्यसे प्राणनादि-व्यापारको श्रुतिमें उपन्यास नहीं किया गया है।[1]

इसमें और बात यह है कि आत्माका जन्मान्तर-सम्बन्ध=देहान्तर-सम्बन्ध=आगम-प्रमाणको छोड़ अनुमानादि-प्रमाणान्तरके द्वारा जानना असम्भव है। क्योंकि, अगर अनुमान किया जाय तब तो आत्माके जन्मान्तर-सम्बन्धको साध्य बताना होगा और उस साध्यके द्वारा व्याप्त लिङ्ग भी प्रदर्शन करना पड़ेगा। परन्तु, आत्मा जन्मान्तर सम्बन्धी है—इसका साधक कोई लिङ्ग नहीं है। यह बात भाष्यकारने स्पष्टरूपसे कहा है कि आत्माका जन्मान्तर-सम्बन्ध आगम-प्रमाणको छोड़ अनुमानादिके द्वारा जानना असम्भव है।

इसमें प्रश्न होता है कि देहव्यतिरिक्त-जन्मान्तर-सम्बन्धी आत्माका अस्तित्व आगममात्रके द्वारा ही अगर ज्ञात होता है तब क्यों भिन्न दर्शन सम्प्रदायके वादीगण कहते हैं कि देहव्यतिरिक्त-आत्माका अस्तित्व-प्रत्यक्ष है एवं अनुमान-प्रमाणका विषय है ?

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि[2] आगमके द्वारा जब आत्माके

१. 'यः प्राणेन प्राणिति' इत्यादिश्रुत्या प्राणनादिव्यापाराख्यस्य लिङ्गस्याऽऽत्मास्तित्वे प्रदर्शितत्वात्तस्य च व्याप्तिसापेक्षस्य प्रत्यक्षादिसिद्धात्मविषयत्वान्न तस्य शब्दैकगम्यतेति शङ्के-श्रुत्येति। आत्मनः स्वातन्त्र्येण लिङ्गम्यत्वाभिप्रायेण श्रुत्या लिङ्गं नोपन्यस्तमिति परिहरति-नेति। योऽचेतन-व्यापारः स चेतनाधिष्ठानपूर्वको यथा रथादिव्यापारः। प्राणनादिव्यापारस्याप्यचेतनव्यापारत्वाच्चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वमिति सम्भावनामात्रेण लिङ्गोपन्यासः। न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ७—८

२. श्रुत्याऽऽत्मास्तित्वे लिङ्गस्य दर्शितत्वाल्लिङ्गस्य च प्रत्यक्षविषयत्वान्नेति चेत्। न। जन्मान्तरसम्बन्धस्याग्रहणात्। आगमेन त्वात्मास्तित्वेऽवगते वेदप्रदर्शित-लौकिकलिङ्गविशेषैश्च तदनुसारिणो मीमांसकास्तार्किकाश्चाहं-प्रत्ययलिङ्गानि च वैदिकान्येव स्वमतिप्रभवानीति कल्पयन्तो वदन्ति प्रत्यक्षश्चानुमेयश्चाऽऽत्मेति।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ७

अस्तित्वका ज्ञान किया जाता है और वेदके द्वारा प्रदर्शित जो लोक-व्यवहार-सिद्ध लिङ्ग-विशेष-समूह हैं उनके द्वारा भी जब वह अवगत किया जाता है, तब उस स्थितिमें वेदानुसारी मीमांसक एवं तार्किकगण 'अहं' ज्ञान एवं सर्वथा वेदमात्रके द्वारा प्रदर्शित लोक-व्यवहार-सिद्ध लिङ्ग-विशेष-समूहको जो वे अपनी बुद्धिके द्वारा ही उद्भावनकी कल्पना-कर कहते हैं कि आत्मा प्रत्यक्ष है एवं अनुमेय है—यह उन लोगोंका औद्धत्य-मात्र है। वेद ही के द्वारा सर्वप्रथम यह निर्देश किया गया है कि आत्मा अहं प्रत्ययकी व्यावहारिक दशामें भासमान होता है एवं प्राणनादि-व्यापार आत्माके अस्तित्वमें लिङ्ग है।

भाष्यकारके इस आशयको स्पष्ट करते हुए आनन्दगिरिने कहा है कि 'येयं प्रेते विचिकित्सा'[1] इत्यादि आगम तथा 'कोह्येव अन्यात'[2] इत्यादि वेदोक्तके द्वारा प्राणनादि लोक-व्यवहार-सिद्धलिङ्ग-विशेष-समूहसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। इसके वाद पूर्वोक्त आत्माकी सिद्धिका अनुसरण करके मीमांसक एवं तार्किक आदि अहं रूप वेदबोधित प्रत्यक्ष-ज्ञान एवं वेदमें प्रदर्शित आत्माके अस्तित्वमें प्राणनादि-व्यापार-रूप-लिंग-विशेष-समूहको देखकर वे इसे अपनी कल्पनाके द्वारा निर्मित करनेका अभिमान करते हैं। पूर्वोक्त रूपसे कल्पना कर वे लोग आत्माके अस्तित्वको प्रत्यक्ष एवं अनुमान—इन दोनों प्रकारसे प्रतिपादित करते हैं। लेकिन, आत्मा वस्तुतः पूर्वोक्त श्रुतिमात्रके द्वारा ही समधिगम्य है—उपायान्तरके द्वारा नहीं—यही समझना चाहिए।[3]

---

१. 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।'
कठोप० १।१।२०

२. तै० उ०—२।७

३. आत्मनो जन्मान्तरसम्वन्धस्य प्रमाणान्तरेणाग्रहणात्तद्ग्राह्यलिंगायोगादित्याह जन्मान्तरेति। ननु व्यतिरिक्तात्मास्तित्वमागमैकगम्यं चेत्कथं तत्प्रत्यक्षमनुमेयं चेति वादिनो वदन्तीति तत्राऽऽह-आगमेन त्विति। ये यं प्रेते विचिकित्सेत्याद्यागमेन "को ह्येवान्यात्" इत्यादिवेदोक्तैश्च प्राणनादिभिर्लौकिकैर्लिंगविशेषैरात्मास्तित्वे सिद्धे यथोक्तात्मसिद्धिमनुसरन्तो वादिनो वैदिकमेवाहं प्रत्ययं प्रतिलभमाना वैदिकान्येव च लिंगानि पश्यन्तः स्वोत्प्रेक्षानिर्मितानि तानीति कल्पयन्तो द्विधाऽऽत्मानं वदन्ति। वस्तुतस्त्वात्मा यथोक्तश्रुत्येकसमधिगम्य इत्यर्थः। बृ० उ० भा० टी० पृ० ८

अब तक कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डके परस्पर सम्बन्ध प्रतिपादनके प्रसंगमें सिद्ध वस्तुके लिए वेदान्त-वाक्यका प्रामाण्य ही स्थापित किया गया है और प्रसंगतः आत्माका अस्तित्व भी स्थापित किया गया है। कर्मानुष्ठानके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके बाद वैराग्यादिके द्वारा तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होती है—यही कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डका परस्पर सम्बन्ध आगे जाकर प्रदर्शित करेंगे। आगम अथवा प्रत्यक्षादि-प्रमाणान्तरके द्वारा देहव्यतिरिक्त आत्माके अस्तित्वका ज्ञान तो होता है और जिस प्रतिपत्ताको यह ज्ञान होता है कि उसकी देहान्तर-सम्बन्धी आत्मा विद्यमान है उसे जन्मान्तरमें देहान्तरगत इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपाय-विशेषकी प्राप्तिमें कामना होती है। उसे देहान्तरमें-जन्मान्तरमें—इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारके उपाय-विशेष ज्ञापित करानेके लिए कर्मकाण्ड आरब्ध हुआ है।

अब प्रश्न होता है कि इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहार-रूप पुरुषार्थकी प्राप्तिके उपाय-विशेषकी कामना करनेवाले जो पुरुष हैं उन्हें पूर्वोक्त उपाय-विशेष ज्ञात करानेके लिए कर्मकाण्डका आरम्भ हुआ हैं ऐसा अगर स्वीकार किया जाय तब तो कर्मकाण्डमें प्रतिपादित कर्म-समूहके द्वारा ही अभिप्रेत पुरुषार्थकी सिद्धि होगी और इससे वेदान्त-ज्ञानकाण्डका आरम्भ करना तो व्यर्थ ही होगा। ऐसी स्थितिमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके परस्पर सम्बन्धके प्रतिपादन करनेका कोई अवसर ही नहीं रहेगा।

इस आपत्तिके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि[१] कर्मकाण्ड पूर्वोक्त उपाय-विशेषको ज्ञापित करानेके लिए आरब्ध होनेपर भी इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट परिहारकी जो आत्माकी इच्छा है उसका कारण है आत्मविषयक अज्ञान। आत्मविषयक अज्ञान विद्यमान रहनेसे ही आत्माको इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारकी इच्छा होती है। आत्म-

१. सर्वथाऽप्यस्त्यात्मा देहान्तरसम्बन्धीत्येवं प्रतिपत्तुर्देहान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्ति-परिहारोपायविशेषार्थिनस्तद्विशेषज्ञापनाय कर्मकाण्डमारब्धम्। न त्वात्मन इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छाकारणमात्मविषयमज्ञानं कर्तृभोक्तृस्वरूपाभिमान-लक्षणं तद्विपरीतब्रह्मात्मस्वरूपविज्ञानेनापनीतम्।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ८

स्वरूपके यथार्थज्ञान होनेसे आत्म विषयिणी इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारकी इच्छा तो हो ही नहीं सकती। ब्रह्मस्वरूप आत्माको इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट-निराकरणरूप इच्छा हो ही नहीं सकती है। आत्म-विषयक अज्ञानसे कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रूप-अभिमान ही समझना चाहिए। अर्थात् 'मैं इस कार्यका कर्त्ता हूँ, मैं इस फलका भोक्ता हूँ' इस प्रकारके अभिमानको ही पूर्वोक्त अज्ञान समझना चाहिए। इसके विपरीत 'आत्मा ब्रह्मस्वरूप है'—यही विज्ञान है। समान-विषयक अज्ञानका समान-विषयकज्ञान विरोधी होता है और यह जो ब्रह्मात्म-स्वरूप ज्ञान है उसके द्वारा ही पूर्वोक्त अज्ञानकी निवृत्ति सम्भव है—कर्मकाण्डके द्वारा इसका अपनयन सम्भव नहीं है।

भाष्यकारके इस विषयको आनन्दगिरिने और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि[1] अन्वय-व्यतिरेक एवं शास्त्रके द्वारा यह ज्ञात होता है कि आत्म विषयक अज्ञान संसार-रूप अनर्थका कारण है मात्र यही नहीं, मिथ्या ज्ञानका जो कार्य है उसे लिंग रूपसे ग्रहण करके भी यह अवधारण किया जा सकता है कि आत्म-विषयक अज्ञान-मिथ्या-ज्ञान-अनर्थ-रूप-संसारका कारण है। पूर्वोक्त आत्म-विषयक अज्ञान ब्रह्माभिन्न-आत्माके अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व ज्ञानके द्वारा निवृत्त किया जाता है। कर्मकाण्डमें प्रतिपादित कर्मसमूहके अनुष्ठानके द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रूप, अभिमान जिसे आत्म-विषयक अज्ञान कहा गया है उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि, कर्मके साथ पूर्वोक्त आत्म-विषयक अज्ञानका

---

१. तस्यास्येत्यादिना काण्डयोः सम्बन्धं प्रतिज्ञाय तादर्थ्येन सिद्धेऽर्थे वेदान्त-प्रामाण्यं सत्त्रोऽपीत्यादिना प्रसाध्याधुना कर्मभिः शुद्धबुद्धेर्वैराग्यादिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिरिति तयोः सम्बन्धं कथयति—सर्वथाऽपीति। आगमान्मानान्तराद्वा व्यतिरिक्तात्मास्तित्व-प्रतिपत्तावपीत्यर्थः। पुरुषार्थोपायविशेषार्थिनस्तज्ज्ञापनार्थं कर्मकाण्डमारब्धं चेत्तर्हि तत्रोक्तकर्मभिरेव विवक्षितपुमर्थ-सिद्धेर्वेदान्तारम्भवैयर्थ्यान्न सम्बन्धोक्तिः सावकाशेत्याशंक्याऽऽह—न त्विति। आत्माज्ञानं खल्वनर्थकारणमन्वयव्यतिरेकशास्त्रगम्यं मिथ्याज्ञानकार्यलिंगकं च। तच्चाकर्तृभोक्तृब्रह्मात्मज्ञानादपनेयम्। न हि तत्कर्मकाण्डोक्तैरेव कर्मभिः शक्यमपनेतुं विरोधाभावात्। तस्मात्तद्बाधनार्थं ज्ञानसिद्धये वेदान्तारम्भसंभवादुक्त सम्बन्धसिद्धिरित्यर्थः। बृ० उ० भा० टी० पृ० ८

कोई विरोध नहीं है। अगर विरोध रहता तब वह आत्म-विषयक अज्ञानका निर्वतक हो सकता था। कर्मकाण्ड तो आत्माके कर्तृत्व भोक्तृत्वके परिपालन-पूर्वक ही प्रवृत्त हुआ है। इसलिए, आत्म-विषयक अज्ञानको बाधित करनेके लिए जो ब्रह्माभिन्न आत्माका अकर्त्तृत्व-अभोक्तृत्व-ज्ञान अपेक्षित है उसे ही निष्पन्न करनेके लिए वेदान्तका आरम्भ सम्भव होता है और इसलिए, कर्मकाण्डके साथ ज्ञानकाण्डके पूर्वोक्त सम्बन्धकी सिद्धि होती है।

अब इसमें प्रश्न होता है कि कर्म-समूहके द्वारा अगर अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है तो न हो। अज्ञान विद्यमान रहने पर भी तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि कर्म-समूहके द्वारा ही मोक्ष हो जायगा। मोक्षमें अज्ञानकी निवृत्ति कोई आवश्यक नहीं है।[१] अज्ञानकी निवृत्ति हो अथवा नहीं, कर्मके द्वारा ही मोक्षकी प्राप्ति हो जायेगी।

इसके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि[२] जब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तब तक वह अज्ञ पुरुष कर्म-फलमें राग-द्वेष प्रभृति स्वाभाविक दोषके द्वार प्रयुक्त होकर शास्त्रविहित कर्म और शास्त्र प्रतिषिद्ध कर्मों का अतिक्रम करके भी मन, वाक्, एवं शरीरके द्वारा दोनों लोक-इहलोक एवं परलोकमें अनिष्टके साधन जो अधर्म- संज्ञक-कर्मसमूह हैं इन्हें बहुल परिमाणमें संचय करता है क्योंकि पहले जिन स्वाभाविक राग-द्वेषादि दोषों का उल्लेख किया गया है वे अज्ञ पुरुषके लिए अतिशय बलवान् हैं। राग-द्वेषादि दोष को स्वाभाविक इसलिए कहा गया है क्योंकि उसमें शास्त्र विधानकी कोई अपेक्षा नहीं है और इसका फल यहीं होता है कि अज्ञ पुरुष पशुके जन्मसे लेकर स्थावर पर्यन्त अधोगति लाभ करता है। धर्मशास्त्रमें इस प्रसंगमें

१. प्राचीनतम-मर्तृप्रपंचादि।

२. यावद्धि तन्नापनीयते तावदयं कर्मफलरागद्वेषादिस्वाभाविकदोषप्रयुक्तः शास्त्रविहितप्रतिषिद्धातिक्रमेणापि प्रवर्तमानो मनोवाक्कायैर्दृष्टादृष्टानिष्ट-साधनान्यधर्मसंज्ञकानि कर्माण्युपचिनोति बाहुल्येन स्वाभाविकदोषबलीय-स्त्वात्। ततः स्थावरान्ताधोगतिः। कदाचिच्छास्त्रकृतसंस्कारबलीयस्त्वम्। ततोमेनआदिभिरिष्टसाधनं बाहुल्येनोपचिनोति धर्माख्यम्।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ८-९

कहा गया है कि शरीरसे उत्पन्न जो कर्मजनित दोष है उसके द्वारा मनुष्य स्थावर होकर उत्पन्न होता हैं।

इस प्रसंगमें आनन्दगिरिने कहा है कि सम्यक् ज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का कारण है कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।[१] परन्तु कर्म परम्परा सम्बन्धसे मोक्षमें उपयोगी है। अज्ञान विद्यमान है इस स्थितिमें किसी भी उपायसे मोक्ष नहीं हो सकता है क्योंकि' अज्ञान विद्यमान रहनेसे जन्म-मृत्यु परम्परा-रूप संसार दुर्वार हो जायगा। इसलिए कर्मकाण्ड का वैराग्यको द्वार बनाकर मोक्षमें प्रवेश होता है। कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरण विशुद्ध होता है और अन्तःकरणके विशुद्ध होनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है और इसके फलस्वरूप मोक्ष होता है। कर्मका फल वैराग्य है।

शंकराचार्यने कहा है कि जैसे राग-द्वेषादि-रूप-स्वाभाविक दोषोंकी प्रबलतासे प्रेरित होकर पुरुष मन, वाक्, और शरीरसे दृष्ट और अदृष्ट अनिष्टके साधनभूत अधर्मसंज्ञक-कर्मोंको अतिशय रूपसे संचय करता है वैसे ही कदाचित् शास्त्रजनित संस्कारकी प्रबलतासे उत्पन्न होनेके फलस्वरूप मन, वाक् एवं कायाके द्वारा दृष्ट एवं अदृष्टके साधनभूत धर्मसंज्ञक-कर्मोंको अतिशय मात्रामें संचय करता है। इस प्रसंगमें जो दृष्टादृष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है, उसमें दृष्ट शब्दका अर्थ है अन्वय व्यतिरेक सिद्ध एवं अदृष्ट शब्दका अर्थ है शास्त्रमात्रगम्या। कोई इष्ट वा अनिष्ट इहलोकमें परिदृष्ट होता है अर्थात् अन्वय व्यतिरेकके द्वारा ज्ञात होता है और कोई इष्ट वा अनिष्ट अदृष्ट है, जिसका ज्ञानमात्र शास्त्र-वाक्यके द्वारा होता है, क्योंकि इस अधर्मकर्मके अनुष्ठानसे यह फल हुआ, यह अगर शास्त्र नहीं कह दे तो अन्य कोई भी प्रमाण वह जाननेके लिए नहीं है। कभी शास्त्रीय प्रमाणोंकी प्रबलता होनेके कारण मनुष्य आदिसे अधिकतर मन, वाक् एवं शरीरके द्वारा स्वर्गादि इष्टके साधनभूत-धर्मसंज्ञक कर्म-पुण्यका उपचय करता है जिसके फलस्वरूप वह स्वर्गादि प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस प्रसंगमें धर्मशब्दके द्वारा पुण्य एवं अधर्मके द्वारा पाप को समझना चाहिये।[२]

---

१. छा० उ०……… ५।१०।८

२. यदि कर्मभिरज्ञानं न निवर्तते। मा निवर्तिष्ट। सत्येव तस्मिन्कर्मवशान्मोक्षः स्यादित्याशंकयाऽऽह-यावद्वीति। सम्यग्ज्ञानमेव साक्षान्मोक्षहेतुर्न कर्म।

ये धर्म-कर्म दो प्रकारके हैं :—(१) ज्ञानरहित (२) ज्ञानपूर्वक-शुद्ध-कर्म। इष्टादिको ज्ञानरहित कर्म कहा जाता है तथा पितृलोकादिकी प्राप्ति उसका फल है। श्रुतिकी उक्ति इस प्रसंगमें है—'कर्मणा पितृलोकः।'[1] ज्ञानपूर्वक कर्मके अनुष्ठानका फल है देवलोकादिसे लेकर ब्रह्मलोकतक की प्राप्ति। इसलिए बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है—'विद्यया देवलोकः।'[2] इस प्रसंगमें यह भी शास्त्रकी उक्ति है कि 'आत्मयाजी श्रेयान्देवयाजिनः' आत्मयाजी देवयाजीसे श्रेष्ठ है। सर्वत्र परमात्म भावना रखकर संध्या-वन्दनादि नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला पुरुष आत्मयाजी है और कामना-पुरस्सर देवताओंका यज्ञानुष्ठान करनेवाला देवयाजी कहा जाता है। इन दोनोंमें आत्मयाजी-आत्मोपासकको उत्कृष्ट कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठानसे देवलोक प्राप्त होता है और कामनापूर्वक कर्मानुष्ठान पितृलोकका प्रापक है, इस प्रसंगमें मनुस्मृतिमें कहा गया है कि वैदिक-कर्म दो प्रकारके हैं।

इस आशयके प्रदर्शन-क्रममें आनन्दगिरिने कहा है कि वैदिक-कर्म दो प्रकारके हैं—(१) प्रवृत्तिरूप एवं (२) निवृत्तिरूप। इहलोक अथवा परलोकके काम्य कर्मको प्रवृत्तिरूप कर्म कहा जाता है तथा ज्ञानपूर्वक निष्कामकर्मको निवृत्तिरूप कर्म कहा जाता है। धर्माधर्म-पुण्यपापरूप कर्मके पृथक्-पृथक् फलोंका उल्लेख करनेके पश्चात् मिश्र

तत्तु प्रनाड्या तदुपयोगि। न हि सत्येवाज्ञाने मुक्तिः। तस्मिन्सति संसारस्य दुर्वारत्वात्। तस्मात्कर्मकाण्डस्य वैराग्यद्वारा प्रवेशो मुक्ताविति भावः। अयमित्यज्ञो निर्दिश्यते। रागद्वेषादीत्यादिशब्देनाविद्यास्मिताभिनिवेशादयो गृह्यन्ते। दोषाणां स्वाभाविकत्वं शास्त्रानपेक्षत्वम्। अपिकारः संभावनार्थः। दृष्टत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वम्। अदृष्टत्वं शास्त्रमात्रगम्यत्वम् अधर्मोपचयप्राचुर्ये हेतुमाह—स्वाभाविकेति। अथवैराग्यार्थं कर्मफलं प्रपंचयन्नधर्मफलमाह। तत इति। उक्तं हि 'शारीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' इति। तत्किं पुण्योपचयाभावादनवकाशं स्वर्गादिफलमिति नेत्याह-कदाचिदिति। शास्त्रीयसंस्कारस्य बलीयस्त्वे फलितमाह-तत इति।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ८-९

१. बृ० उ० १।५।१६ २. बृ० उ० १।५।१६

धर्माधर्मके फल शंकराचार्य कह रहे हैं।[१] धर्म और अधर्मकी समान मात्रा होनेपर मनुष्यत्व-मनुष्यलोक की प्राप्ति होती है। इसलिए स्मृतिमें भी कहा गया है[२] कि पुण्य एवं पाप धर्माधर्म-उभय प्रकारके कर्मानुष्ठानके द्वारा जीव अवश होकर मनुष्यलोक प्राप्त करता है। पूर्वोक्त तीनों प्रकारके कर्मों—यथा (१) ज्ञानपूर्वक कर्म (२) ज्ञानरहित कर्म (३) मिश्र कर्मका फल ब्रह्मसे लेकर स्थावरपर्यन्त अवस्थाकी प्राप्ति। अब निष्कर्ष यह हुआ कि स्वाभाविक अविद्यादि-दोष-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश जिस जीवमें विद्यमान है उसे ही जन्म-मृत्यु-रूप-संसारकी गति-बंधन होती है। यह जन्म-मृत्यु-रूप-संसारगति नामरूप, अविद्या, एवं कर्मको आश्रय करके प्रवृत्त होती है। आशय यह है कि नामरूप+अविद्या+संसारका उपादान कारण है, कर्म संसारगतिका निमित्त-कारण है और इसका साधन है धर्माधर्म—पाप-पुण्यरूप-कर्मानुष्ठान। इसलिए, भाष्यकारने कहा है 'एवं ब्रह्माद्यास्थावरान्ता स्वाभाविकाविद्यादिदोषवती धर्माधर्मसाधनकृता संसारगतिर्नामरूपकर्माश्रया।'[३]

---

१. तद्द्विविधम्। ज्ञानपूर्वकं केवलं च। तत्र केवलं पितृलोकादिप्राप्तिफलम्। ज्ञानपूर्वकं देवलोकादिब्रह्मलोकान्त-प्राप्ति-फलम्। तथाच शास्त्रम् 'आत्मयाजी श्रेयान्देवयाजिनः' इत्यादि स्मृतिश्च 'द्विविधं कर्म वैदिकं' इत्याद्या। साम्ये च धर्माधर्मयोर्मनुष्यत्वप्राप्तिः। एवं ब्रह्माद्या स्थावरान्ता स्वाभाविकाविद्यादिदोषवतो धर्माधर्मसाधनकृता संसारगतिर्नामरूपकर्माश्रया।
बृ० उ० भा० टी० पृ० ९

२. अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्॥ मनुस्मृति ६।६४

३. आदिशब्दो वाग्देहविषयः। फलविभागं वक्तुं कर्म भिनत्ति। तद्द्विविधमिति। तस्य मुक्तिफलत्वं निरसितुं फलं विभजते—तत्रेति। केवलमिष्टादिकर्मेति शेषः। 'कर्मणा पितृलोकः' इति हि वक्ष्यति। तस्मिन्फले नानात्वमपिप्रेत्याऽऽदिशब्दः। 'विद्यया देवलोकः' इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह ज्ञानेति। देवलोको यस्याऽऽदिर्ब्रह्मलोको यस्यान्तस्तस्यार्थस्य प्राप्तिरेव फलमस्येति विग्रहः। उक्तेऽर्थे शतपथीं श्रुतिं प्रमाणयति—तथाचेति। सर्वत्र परमात्मभावनापुरःसरं नित्यं कर्मानुतिष्ठन्नात्मयाजी। कामनापुरःसरं देवान्यजमानो देवयाजी। तयोर्मध्येकतरः श्रेयानिति विचारे सत्यात्म-

अब प्रश्न होता है कि यह कथन कि 'संसारकी गति अविद्याप्रयुक्त है' सर्वथा अयुक्त है। अविद्या स्वयं अवस्तुभूता है अवस्तुभूता अविद्या जब संसारका उपादान है तब संसार भी तो अवस्तुभूत ही होना चाहिए; क्योंकि, उपादेय=कार्य उपादान=कारणके अनुरूप होता है। परन्तु, यह संसार तो प्रत्यक्षादि-प्रमाणके द्वारा जब ज्ञात किया जाता है तब वह कैसे अविद्योपादानक हो सकता है ? फिर, श्रुतिमें भी कहा गया है कि 'नाम एवं रूपके द्वारा अव्याकृत-अनभिव्यक्त अवस्थान स्थित-जगत्को अभिव्यक्त किया गया है।[1]' नामरूपात्मक यही जो जगत् है उसीकी अभिव्यक्ति श्रुतिमें कही गयी है। इसलिए, प्रत्यक्ष एवं श्रुति प्रमाण सिद्ध इस जगत्को अविद्याकृत किसी भी स्थितिमें अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इस शंकाके अपनोदनमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि[2] इस जगत्का यथार्थ-स्वरूप आत्मा ब्रह्म है; क्योंकि, यह जगत् आत्मा-ब्रह्ममें

याजी श्रेयानिति निर्णय: कृत:। अतो ज्ञानपूर्वकं कर्म देवलोकस्य कामनापूर्वं तु पितृलोकस्य प्रापकमित्यर्थ:।

'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
इह वाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते॥
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमभिधीयते'

इत्यादिमनुस्मृतिं चात्रैवोदाहरति—स्मृतिश्चेति। धर्माधर्मयोरेकैकस्य फलमुक्त्वा मिश्रयो: फलमाह—साम्ये चेति। उक्तं हि—

"उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवश:"

इति। त्रिविधमपि कर्मफलं वैराग्यार्थं संक्षिप्योपसंहरति एवमिति। सा चाविद्याकृतत्वादनर्थरूपेत्याह—स्वाभाविकेति। विचित्रकर्मजन्यतया तस्या वैचित्र्यमाह—धर्माधर्मेति। तेषां सूक्ष्मावस्थाऽविद्या तदालम्बनेति यावत्। धर्मादेरविद्यायाश्च निमित्तत्वोपादानत्वाभ्यामुपयोग इति भाव:।
बृ० उ० भा० टी० पृ० ९-१०

१. बृ० उ० १।६।१।

२. तदेवेदं व्याकृतं साध्यसाधनरूपं जगत्प्रागुत्पत्तेरव्याकृतमासीत्। स एष बीजांकुरादिवदविद्याकृत: संसार आत्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणोऽनादिरनन्तोऽनर्थं इत्येतस्माद्विरक्तस्याविद्यानिवृत्तये तद्विपरीत ब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थोपनिषदारभ्यते। बृ० उ० भा० टी० पृ० १०

४

अध्यस्त है और यह आत्मतत्त्व अनभिव्यक्त रहनेके कारण जो श्रुति जगत्के प्रत्यक्ष-विषयकज्ञानका प्रतिपादनकर रहा है उस श्रुतिके द्वारा अभिव्यक्तरूप दृष्टरूपसे ज्ञात होनेपर भी यह जगत् वस्तुतः अनभि-व्यक्त है। इसलिए, 'यह जगत् अविद्याकृत है'—इस सिद्धान्तकी कुछ भी हानि नहीं है। यह व्याकृत जगत् साध्य एवं साधनरूपमें विभक्त है। जगतका कोई अंश निष्पाद्य देखनेमें आता है और कोई अंश साधन-निष्पादकरूपमें प्रतीत होता है। यह व्याकृत अवस्थामें साध्य-साधन जगत् रूपमें भासमान होनेपर भी उत्पत्तिसे पूर्व अव्याकृत था। उस समयमें जगत् ब्रह्मात्मा-रूपमें अवस्थान करनेके कारण ब्रह्मसे अव्यति-रिक्त रूपमें अवस्थान करता है; इसलिए, ब्रह्म भी अनभिव्यक्त है और ब्रह्म भी अनभिव्यक्त रहनेके कारण जगत् भी अनभिव्यक्त ही है।[१]

प्रश्न होता है कि जब संसार अविद्याकृत है तब वह अनादि कैसे हो सकता है? जो अन्य वस्तु है वह अनादि कैसे होगा?

इस शंकाके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि बीजांकुरके सदृश यह संसार प्रवाहरूपसे अनादि है। बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुरसे वृक्ष, वृक्षसे पत्र, पत्रसे पुष्प, पुष्पसे फल, फलसे पुनः बीज उत्पन्न होता है—इस बीजांकुरकी जैसे प्रवाहरूपसे शृंखला चलती है वैसे ही अविद्या एवं संसारके विषयमें समझना चाहिए। यह संसार चिद्रूप आत्मामें क्रिया, कारक एवं फलका आरोप-रूप है।

अब इसमें प्रश्न होता है कि संसारकी उत्पत्तिमें इदं प्राथम्य—'यही प्रथम उत्पत्ति है' जब नहीं कहा जा सकता है तब संसारकी कदा-चित्कता निबन्धन किसी साधनकी अपेक्षा नहीं रहने ही उसका नाश भी कदाचित् हो जायगा। कारण, जिसकी उत्पत्ति आकस्मिक है उसका नाश भी आकस्मिक होगा।

---

१. ननु संसारगतेराविद्यत्वमयुक्तं प्रत्यक्षादिप्रतिपन्नत्वात्तन्नामरूपाभ्यामेव व्या-क्रियतेति श्रुतौ च नामरूपात्मनो जगतोऽभिव्यक्तिश्रवणाच्च प्रामाणिकस्या-विद्याकृतत्वमत आह। तदेवेदमिति। जगतः स्वरूपमात्मा तत्राध्यस्तत्वा-त्तस्मादात्मतत्त्वेऽनभिव्यक्ते प्रत्यक्षादिना श्रुत्या चाभिव्यक्तमिव दृश्य-मानमपि जगदनभिव्यक्तमेवेति न तस्याविद्याकृतत्वक्षतिरिति भावः। अविद्याकृतं संसारगतिमनुभाषते स एष इति। बृ० उ० भा० टी० पृ० १०

इसके उत्तरमें कहा जाता है कि सिद्धान्ती इस संसारको कदाचित्कता स्वीकार ही नहीं करते हैं। उन्होंने पहले ही स्पष्ट रूपसे कहा है कि यह संसार अनादि है। संसारको अनादि स्वीकार करनेका तात्पर्य यह नहीं है कि संसारका अस्तित्व आकस्मिक है। भाष्यकारने जो कहा है कि "संसारका आत्मामें कल्पित है—इसका निगूढ़ आशय यह है कि चैतन्य ज्ञान-स्वरूप है। यह ज्ञान अज्ञानका विरोधी है जैसे प्रदीपकी सत् दशामें अन्धकार नहीं रह सकता है, वैसे ही ज्ञानकी सत् दशामें अज्ञान भी नहीं रह सकता और इससे चैतन्य-स्वरूप आत्मामें यह संसार अविद्याके द्वारा उत्पादित होता हैं—यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कारण, इसमें अनुपपत्ति स्पष्ट है। इस शंकाके परिहारमें भाष्यकारने कहा है कि संसार क्रिया, कारक एवं फलरूप से भासमान होनेके कारण नानारूप है और ज्ञान-स्वरूप आत्मा एकरूप है। वाचारूपसे विलक्षण एकरूपमें जो नानात्व भासमान होता है उस नानात्वको कल्पित ही समझना चाहिए। इसलिए, भाष्यकारने स्पष्टरूपसे निर्देश किया है कि 'संसार आत्मामें कल्पित है'।[1]

प्रश्न हो सकता है कि संसार अनादि होनेपर भी उसकी निवृत्ति तो हो सकती है, कारण, प्रागभाव तो अनादि है। प्रतियोगी उत्पन्न होनेसे अनादि प्रागभाव भी निवृत्ति हो जाता है। संसार अनादि है इसलिए इसकी निवृत्ति नहीं होगी—इस रूपमें कहना अनुचित है।

इसके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि यह संसार प्रागभावके समान अनादिमात्र नहीं है अपितु यह अनन्त भी है। अन्त शब्दका अर्थ है निवास। ब्रह्मविद्याके बिना संसारकी निवृत्ति नहीं होती। भाष्यकार और भी कह रहे है। कि यह संसार अनर्थरूप है। इसलिए पुरुषके प्रयत्नके द्वारा जैसे अनर्थका परिहार किया जाता है वैसे ही संसार भी प्रयत्नके द्वारा हेय है। इसलिए कर्म, यज्ञ आदि जब

१. नन्वविद्याकृतत्वे कथमनादित्वमित्याशक्य तस्य प्रवाहरूपेणेत्याह—बीजांकुरादिवदिति। तर्हि कादाचित्कतया साधनापेक्षामन्तरेण नाशो भविष्यतीत्याशंक्याऽऽह—अनादिरिति। चैतन्यवदात्मनि तस्याविद्याकृतत्वानुपपत्तिमाशंक्य नानारूपत्वेन ततो विलक्षणत्वादेकरूपे युक्तं तस्य कल्पितत्वमित्याह क्रियेति। बृ० उ० भा० टी० पृ० १०

संसार-रूप-फलका ही उत्पादक है, मोक्षका उत्पादन नहीं करता तब तो कर्ममूलक अज्ञानके साथ संसारके निवर्तक जो आत्मज्ञानकी प्राप्तिरूप प्रयोजन है उसीको निष्पन्न करानेके लिए वेदान्त-उपनिषत्का आरम्भ तो उत्पन्न है और इस उपनिषत्-वाक्यके श्रवण-मनन और निदिध्यासनमें समदमादि साधन चतुष्टय सम्पन्न पुरुष ही अधिकारी है। इसी आशयको व्यक्त करते हुए भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि पूर्वोक्त संसारसे विरक्त पुरुषकी अविद्या निवृत्तिके लिए अविद्याके विपरित जो ब्रह्म विषयिणि-ब्रह्मात्मैक्य विषयिणी विद्या है उसीकी प्राप्तिके लिए बृहदारण्यक उपनिषद्का आरम्भ किया गया है।[1]

1. अनादेरपि संसारस्य प्राग्भाववन्निवृत्तिः स्यादिति चेत्तथाऽपि ब्रह्मविद्यामन्तरेण नाशो नास्तीत्याह—अनन्त इति। प्रयत्नतो हेयत्वं द्योतयितुमनर्थ इति विशेषणम्। नैसर्गिक इति पाठे तु कारणरूपेण तत्त्वमुन्नेयम्। यस्मात्कर्म संसारफलं न मोक्षं फलयति तस्मात्सनिदानसंसारनिवर्तकात्मज्ञानार्थत्वेन साधनचतुष्टयसंपन्नमधिकारिणमधिकृत्य वेदान्तारम्भः संभवतीत्युपसंहरति—इत्येतस्मादिति। वृ० उ० भा० टी० पृ० १०

चतुर्थ अध्याय

अश्वमेघोपासना: प्रयोजन

पहले कहा जा चुका है कि संसारका निदान अज्ञान है और इस निदानके साथ संसारका निवर्तक आत्म-ज्ञानके लिए साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारीको उद्देश्य कर उपनिषद्का आरम्भ किया गया है। अगर बात ऐसी है कि पूर्वोक्त ज्ञानको लाभ करनेके लिए ही उपनिषद्का आरम्भ किया गया है तब तो बृहदारण्यक उपनिषद्का आरम्भ ब्रह्म वा इदमग्र आसीत 'इस वाक्यसे करना ही उचित है। कारण, ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् 'इस वाक्यसे ही सनिदान संसार निवर्तक आत्मज्ञानका उपदेश दिया गया है। परन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् तो 'उषा वा अश्वस्य 'इत्यादि वाँक्यके द्वारा आरम्भ,किया गया है यह तो सर्वथा युक्ति विरुद्ध है। कारण इहे 'उषा वा अश्वस्य' मन्त्रमें पूर्वोक्त आत्मज्ञान तो प्रतिपादित नहीं किया गया है।

इस आशंकामें समाधानके लिए' उषा वा अश्वस्य'इस मन्त्रसे बृहदारण्यक उपनिषद्को आरम्भ करनेमें जो अभिष्ट फल है उसका प्रतिपादन करते हुए भाष्यकारने प्रथमत: अश्वमेघ उपासनाका फल निर्देश किया है। भाष्यकारने जो कहा है उसका आशय यह है कि अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानमें क्षत्रिय राजामात्रका अधिकार है। इसलिए क्षत्रिय राजा-समूह अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कर इसका फल प्राप्त करते हैं। लेकिन अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानमें ब्राह्मणादि वर्णोंका अधिकार नहीं है। इसलिए अश्वमेध यज्ञानुष्ठानमें अधिकारी ब्राह्मणादि वर्णसमूह जो अश्वमेध यज्ञानुष्ठानके फलकी कामना करते हैं वे भी इसे प्राप्त कर सकते हैं। इन्हें अश्वमेध यज्ञके विज्ञान-उपासनाके द्वारा ही अश्वमेध यज्ञानुष्ठानका फल प्राप्त हो सकता है। इस आशयसे बृहदारण्यक उपनिषद्के प्रारम्भमें 'उषा वा अश्वस्य इत्यादि मन्त्रके द्वारा अश्वमेध यज्ञकी उपासनाके सम्बन्धमें कहा गया है।

प्रश्न हो सकता है कि इसमें प्रमाण क्या है कि जो फल अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानसे होता है वही ;फल अश्वमेध कर्म सम्बन्धी विज्ञान उपासनासे भी होता है ?

इसके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि श्रुति-वाक्य 'विद्यया वा कर्मणामें जो विकल्परूपसे विद्या अथवा कर्मको कहा गया है—उसके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है कि कर्म स्वरूपके ज्ञानसे भी वही फल प्राप्त हो जाता है जो फल कर्मानुष्ठानसे प्राप्त होता है। इस विषयको दृढ़ करनेके लिए भाष्यकारने और भी श्रुतियोंका उल्लेख किया है ,जैसे—तद्वैतचिल्लोकजिदेव।[१] इसका आशय यह है कि प्राणस्वरूपका दर्शन विज्ञान-लोक प्राप्तिका साधन होता है। कर्मानुष्ठानके द्वारा जैसे लोक प्राप्ति होती है, वैसे ही कर्मस्वरूपके विज्ञानके द्वारा भी, उपासनाके द्वारा भी जो ब्रह्मलोकको प्राप्ति होती है—इस विषयमें अनेक श्रुति प्रमाण है।[२]

अब यहाँ एक प्रश्न होता है—अश्वमेध-यज्ञका विधानके सम्बन्धमें उल्लिखित उपासना भी अश्वमेध यज्ञका उसी प्रकार अंग है जिस प्रकार कि अश्व अश्वमेध यज्ञका अंग है, इसलिए अंगी अश्वमेध यज्ञका

१. अस्यत्वश्वमेधकर्मसंबन्धिनो विज्ञानस्य प्रयोजनं येषामश्वमेधे नाधिकारस्तेषामस्मादेव। 'विद्या वा कर्मणा वा' 'तद्वैतल्लोकजिदेव' इत्येवमादिश्रुतिभ्यः। बृ० उ० भा० टी० पृ० १०-११

२. यथोक्तज्ञानार्थत्वेनोपनिषदारम्भे 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यारब्धव्यं तस्मादारम्य ज्ञानोपदेशात्। 'उषा वा अश्वस्य' इत्यारम्भस्तु न युक्तः साक्षादत्र तदनुक्तेरित्याशङ्क्य तस्मादारम्भोपनिषदारम्भेऽभीष्टं फलमभिधित्समानः प्रथममश्वमेधोपासनफलमाह—अस्य त्विति। राजयज्ञत्वादश्वमेधस्य तदनधिकारिणामपि ब्राह्मणादीनां तत्फलार्थिनामस्माकदेवोपासनात्तदाप्तिरिति मत्वा श्रुतौ तदुपासनोक्तिरित्यर्थः। किमत्र नियामकमित्याशङ्क्य विकल्पश्रवणं केवलस्यापि ज्ञानस्य साधनत्वं सूचयतीत्यर्थंतो विकल्पश्रुतिमुदाहरति—विद्येति। तत्फलप्राप्तिरिति पूर्वेण संबन्धः। तत्रैव श्रुत्यन्तरमाह—तद्वेति। तदेतत्प्राणदर्शनं लोकप्राप्तिसाधनं प्रसिद्धमिति यावत्। आदि शब्देन केवलोपास्त्या ब्रह्मलोकाप्तिवादिन्यः श्रुयो गृह्यन्ते।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ११

जो फल होता है वही फल उसके अंग अश्व एवं अश्वमेध उपासनादि प्रभृतिका भी है। अंगी अश्वमेध यागके फलके द्वारा फलवान है। निष्कर्ष यह है कि अंगी प्रधानके फलके द्वारा अंग भी फलवान होता है, अंगका अन्य कोई स्वतन्त्र फल नहीं होता है।[1] पूर्वपक्षीका आशय यह है कि अश्वमेधका विज्ञान उपासना- अश्वमेध कर्म अश्वमेध यागके विषयका लंघन नहीं करता है अर्थात् अश्वमेधका विज्ञान अश्वमेध यागके अंगोंमें पड़ जाता है और इससे अश्वमेध यज्ञके फलको छोड़ अश्वमेध-विज्ञानका कोई अन्य स्वतन्त्र फल नहीं है। कारण, पहले ही कहा जा चुका है कि अंगोके फलसे भिन्न अंगका कोई फल नहीं होता।

इस पूर्वपक्षको उठाकर भाष्यकार शंकराचार्यने स्पष्टरूपसे कहा है[2] अश्वमेध यज्ञका अंग नहीं हो सकता है। कारण, श्रुतिमें कहा गया है कि जो अश्वमेध यागका अनुष्ठान करता है अथवा जो अश्वमेध यज्ञको जानता है, वे दोनों ही सभी प्रकारके ब्रह्महत्या प्रभृति पापको अतिक्रमण करते हैं। 'जब अथवा लगातार अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान एवं अश्वमेध यज्ञका वेदन अश्वमेध यज्ञका अंग नहीं है और इससे अश्वमेध यज्ञके फलके द्वारा अश्वमेध यज्ञका वेदन फलवान् नहीं हो सकता है। अगर ऐसा होता तब तो अश्वमेध यज्ञानुष्ठान एवं अश्वमेध यज्ञका वेदन इन दोनोंका पृथक-पृथक फल श्रुतिमें वैकल्पिकरूपसे उल्लेख नही किया जाता। श्रुतिमें कथित 'य उ च' विकल्प बोधक शब्दके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया जा रहा है कि अश्वमेध-यज्ञानु-

---

१. जिस प्रधान कार्यके विधानमें उसके फलका निर्देश रहता है वह अंगी-कार्य फलवान् कहलाता है। किन्तु, उसके प्रकरणमें यदि किसी ऐसे कार्यका विधान हो जिसमें उसके फलका निर्देश न हो तो वह अमुक्त-फल कार्य पूर्वोक्त प्रधान कार्यका अंग माना जाता है। 'फलवत् सन्निधौ अफलं तदगं' इस शास्त्रोक्तिमे पूर्वोक्त अर्थकी सम्पुष्टि होती है। अंगका कोई स्वतन्त्र फल नहीं होता है। वह तो अंगीके फलसे ही फलवान् होता है।

२. कर्मविषयत्वमेव विज्ञानस्येति चेत्। न। 'योऽश्वमेधेन यजते य उ चैवमेवं वेद' इति विकल्पश्रुतेः। विद्याप्रकरणे चाऽऽम्नानात्।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ११

ष्ठानका जो फल है उससे अश्वमेध यज्ञके वेदन ज्ञानका फल भिन्न है और यह युक्ति संगत भी है कि ज्ञान एवं कर्म—अश्वमेध यज्ञका वेदन एवं अश्वमेधध यज्ञका अनुष्ठान—इन दोनोंका फल समान हो जाय।[1]

यहाँ एक शंका होती है कि अश्वमेध उपासनाके सम्बन्धमें जो फलका श्रवण है, फलका विधायक जो श्रुति है, वह अर्थवाद है और अर्थवाद-वाक्योंका अपने स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, यही मीमांसकलोग स्वीकार करते है। आशय यह है कि अश्वमेध उपासनाका कहा गया फल उसके प्राशस्त्य प्रतिपादनमें ही चरितार्थ है। उसका यथाश्रुत अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

इस रूप शंकाके उत्तरमें कहा गया है कि अश्वमेध उपासना भी कर्म है और इसलिए, उसका विधान वेद वाक्यके द्वारा किया गया है। और भी बात यह है कि अश्वमेध उपासना कर्म-प्रकरण-कर्मकाण्डसे बहिर्भूत नहीं है। इसलिए, अश्वमेध उपासनाके विषयमें श्रुत फलको अर्थवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इस शंकाके समाधानमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि[2] पूर्वोक्त श्रुति—'अश्वमेधेन यजंते' का उल्लेख विद्या-प्रकरण-ज्ञानकाण्डमें होनेके कारण अश्वमेध उपासना-अश्वमेध-विज्ञानको अश्वमेध-यज्ञके कर्मानुष्ठानमें अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है। अश्मेध उपासनाके सम्बन्धमें जो फलका श्रवण है वह क्यों अर्थवाद नहीं है ? इसके सम्बन्धमें भाष्यकारने और भी युक्ति प्रदर्शित किया है, उनके कथनका आशय यह है कि केवल अश्वमेधके सम्बन्धमें ही उपासना अथवा विज्ञानका उल्लेख नहीं किया गया है, प्रत्युत, वैदिक-कर्मके सम्बन्धमें भी वेदन-विद्याके विषयमें कहा गया है। इसका नाम है सम्पदुपासना। इसलिए, वैदिक-कर्मके

१. अश्वमेधे यदुपासनं तस्याप्यश्वादिवत्तच्छेणत्वेन फलवत्त्वान्न स्वातन्त्र्येण तद्वत्त्वमङ्गेषु स्वतन्त्र फलाभावादिति शङ्कते—कर्मविषयत्वामिति। ज्ञानस्य क्रत्वर्थत्वं दूषयति—नेति। पूर्वग्रार्थतो दर्शितां विकल्पश्रुतिमत्र हेतुतया स्वरूपतोऽनुक्रामति—योऽश्वमेधेनेति। स सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्म-हत्यामिति संबन्धः। ज्ञानकर्मणोरतुल्यफलत्वस्य न्याय्यत्वादिति शेषः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ७

२. देखें बृ० उ० ६।२।११

विज्ञानमात्रसे ही यह फलसमूह प्राप्त किया जाता है अन्यथा कर्मान्तरके वेदनसे भी तत्-तत्-फल उत्पन्न होता है—ऐसा क्यों कहा गया है ?

इस आशयको स्पष्ट करते हुए आनन्दगिरिने कहा है कि[१] अश्वमेधसे भिन्न कर्म-चित्याग्नि प्रभृतिमें 'अयं वै लोकोऽग्निः' इत्यादि वाक्य द्वारा यह लोक-भूलोक प्रभृति सम्पादित किया जाता है। इसलिए, तत्-तत्-की उपासनाका स्वतन्त्र फल जब श्रुतिमें कहा गया है तब इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अश्वमेध यज्ञके वेदन-सम्बन्धी फलकी श्रुति प्रासस्ता-बोधक अर्थवाद मात्र नहीं है। कर्मान्तरमें भी जब उपासनाका विधान किया गया है तब तो तत्-तत्-कर्मके विज्ञानसे तत्-तत्-फलकी प्राप्ति होती है—यही श्रुति वाक्यसे अवगत होता है।

इसमें शंका होती है क्योंकि सिद्धान्तीने कहा है कि अश्वमेधकी उपासना अश्वमेध-यज्ञका अंग-उपकारक नहीं है, लेकिन, वह अश्वमेधके उपासक पुरुषका उपकारक होता है और अश्वमेध उपासनामें वे सब भी अधिकारी हैं जिन सबोंका अश्वमेध-क्रतुके अनुष्ठानमें अधिकार नहीं है। अगर श्रुतिका विवक्षित अभीष्ट यही है तब तो कर्मकाण्डसे भी पूर्वोक्त उपासनाके फलकी प्राप्ति होनेके कारण विद्या-प्रकरण-उपनिषद्में अश्व-मेधके अध्ययनका कोई प्रयोजन नहीं है, कारण, यह बात स्पष्ट है कि अश्वमेध ब्राह्मणका आलोच्य बृहदारण्यक उपनिषद्में ही पाठ किया गया है।

इस शंकाके समाधानमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि[२] सभी वैदिक कर्मोंमें अश्वमेध-कर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि वे समष्टि (अनुवृत्त) व्यष्टि-

१. अश्वमेधातिरिक्ते कर्मण्ययं वावलोकोऽग्निरित्यादौ चित्याग्न्यादावेतल्लोका-दिसंपदानस्य स्वतन्त्रफलोपासनस्य दर्शनान्न फलश्रुतेरर्थवादतेत्यर्थः। अश्व-मेधोपासनं न क्रत्वर्थं किं तु पुरुषार्थं तत्र चाधिकारोऽश्वमेधक्रत्वनधिकारि-णामपीत्येतावदेवेष्टं चेदुपासने कर्मप्रकरणस्थेऽपि तल्लाभाद्विद्याप्रकरणे नास्याध्ययनमर्थवदित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेषां चेति।
बृ० उ० भा० टी० पृ० ११

२. सर्वेषां च कर्मणां परं कर्माश्वमेधः। समष्टिव्यष्टि प्राप्तिफलत्वात्। तस्य चेह ब्रह्मविद्याप्रारम्भ आम्नानं सर्वकर्मणां संसारविषयत्व प्रदर्शनार्थम्।
बृ० उ० भा० पृ० ११

(व्यावृत्त) रूप जो हिरण्यगर्भ है उसीकी प्राप्तिका कारण है। यह संसार हिरण्यगर्भ है। सर्वश्रेष्ठ जो अश्वमेध-कर्म है उसका भी फल जब हिरण्यगर्भरूप-संसार है तब अन्य कर्मकी बात ही क्या है ? समष्टि-व्यष्टि-अश्वमेध-कर्मका हिरण्यगर्भावस्थाकी प्राप्ति-फलक अश्वमेध-यज्ञको जो बृहदारण्यक उपनिषद्में ब्रह्म-विद्याके प्रारम्भमें पाठ किया गया है उसका निगूढ़ आशय यह है कि सभी कर्म संसाररूप-फलका ही जनक है। सभी कर्म संसार-विषयक है—यही प्रदर्शन करना बृहदारण्यक श्रुतिका तात्पर्य है।

इस प्रसंगको स्पष्ट करते हुए आनन्दगिरिने कहा है कि[१] जब सभी यज्ञोंमें प्रधान अश्वमेध-यज्ञ उपासनाके साथ भी होकर संसाररूप-फलका ही जनक होता है तब अल्प साधन-साध्य अग्निहोत्रादि-याग जो संसाररूप-फलका जनक हो जायगा—इसको कहना ही क्या है ? इसलिए, संसाररूप-बन्धके हेतु कर्म-समूहसे विरक्त पुरुष-समूह शमदमादि-साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर जीवात्माका ब्रह्मके साथ ऐक्यज्ञानकी प्राप्तिके उपायमें कैसे पूर्वोक्त पुरुष-समूह प्रवृत्त होगा—इसी आशयसे बृहदारण्यक श्रुतिमें अश्वमेध उपासनाका उपदेश ब्रह्मविद्याके प्रारम्भमें किया गया है। पूर्वोक्त ऐक्यज्ञानकी प्राप्तिका उपाय है सभी कर्मोंका संन्यास-पूर्वक श्रवणादि। अतः 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि मन्त्रसे उपनिषद्का

१. परत्वे हेतुः—समष्टीति। अनुवृत्तव्यावृत्तरूपहिरण्यगर्भप्राप्तिहेतुत्वात्तस्य श्रेष्ठतेत्यर्थः। तस्य पुण्यश्रेष्ठत्वेऽपि प्रकृते किमायातं तदाह—तस्य चेति। यदाक्रतु प्रधानस्याश्वमेधस्योपास्तिसहितस्यापि संसारफलत्वं तदाऽल्पीयसामग्निहोत्रादीनां संसार फलत्वं किं वाच्यमित्यस्मिन्कर्मराशौ बन्धहेतौ विरक्ताः साधनचतुष्टयविशिष्टा ज्ञानमपेक्षमाणास्तदुपाये श्रवणादावेव सर्वकर्मसन्यासपूर्वके कथं प्रवृत्तेरन्नित्याशयवती श्रुतिरुपासनां विद्यारम्भेऽभिदधाति। तेनोषा वा अश्वस्येत्याद्युपनिषदारम्भो युक्तोऽस्य विशिष्टाधिकारिसमपर्कत्वादित्यर्थः। उपासनफलस्य संसारगोचरत्वमेव कुतः सिद्धमत आह—तथा चेति। अशनाया हि मृत्युः स वै नैव रेमे सोऽबिभेदिति मयारत्यादिश्रवणादुपास्तियुक्तक्रतुफलस्य सूत्रस्य बन्धमध्यपातित्वाद्विशिष्टोऽपि क्रतुर्न मुक्तये पर्याप्नोतीत्यर्थः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ११-१२

प्रारम्भ युक्ति-युक्त है; कारण यह, उपनिषद्-वाक्य विशिष्ट अधिकारीका सम्पर्क है। पहले ही पर्यालोचन किया गया है कि किन विशेषणोंसे विशिष्ट पुरुष ज्ञानकाण्डमें अधिकारी हैं।

अब प्रश्न होता है कि उपासनाका फल संसार है उपासना संसारको ही विषय करता है—यह यहाँसे सिद्ध होता है ?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि बृहदारण्यक उपनिषद्के प्रारम्भमें ही अशना हि मृत्यु; 'स वै नैव रेमे, सोऽविभेदिति, इत्यादि वाक्योंके द्वारा हिरण्यगर्भावस्था प्रदर्शित की गयी है। अशन भोजन करनेकी इच्छाको अशनाया कहते हैं। अशनाया अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द है। अशितुं भोजन करनेकी जो इच्छा है उसीका नाम अशनाया है। संक्षेपमें अशना 'शब्दका अर्थ है क्षुधा और क्षुधा ही मृत्युका लक्षण हैं। अतः अतृप्त पुरुषकी भोगेच्छा ही अशनाया मृत्यु हैं। अतृप्त पुरुषमें भोगाकांक्षा रहनेके कारण ही पुनः उसकी सृष्टि होती हैं। इस प्रसगमें मृत्युका अर्थ है हिरण्यगर्भ जो संसारके अन्तर्गत हैं। हिरण्यगर्भावस्थामें पूर्वोद्दत श्रुतिके अनुसार भय, अरति आदि विद्यमान है और इससे सिद्ध होता है कि उपासनायुक्त यज्ञ सूत्र हिरण्यगर्भावस्था प्राप्तिरूप फलका जनक है। यह पहले ही उल्लेख किया गया है कि हिरण्यगर्भावस्था संसार बन्धनके अन्तर्गत है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट यज्ञ अश्वमेध उपासनायुक्त होकर भी मोक्षका जनक नहीं होता।[1]

इसमें एक शंका होती है कि[2] काम्य कर्मके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले फलका निर्देश श्रुतिने साक्षातरूपसे किया है। स्वर्गकामी यजेत'[3] इत्यादि वाक्य इसमें प्रमाण है। काम्यकर्मका स्वर्गादि फल साक्षात् श्रुतिके कण्ठरवसे प्रतिपादित हुआ है। फिर भी विहित नित्य नैमित्तिक

१. तथा च दर्शयिष्यति फलमशनायां मृत्यु मावम्। न नित्यानां संसारविषयफलत्वमिति चेत्। न। सर्वकर्मफलोपसंहारश्रुतेः।
बृ० उ० पृ० ११-१२

२. उक्ते सर्वकर्मणां बन्धफलत्वे नित्यनैमित्तिकानां न तत्फलत्वं तेषां विध्युद्देशे फलाश्रुतेर्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन मुक्तिफलत्वलाभादिति शङ्कते—न नित्यानामिति। बृ० उ० भा० टी० पृ० १२

३. आ० स्तो० सू० १७-२-८

कर्मका फल विधि-वाक्यके द्वारा निर्दिष्ट नहीं हुआ है। अतः नित्य नैमित्तिक कर्मके फलकी आकांक्षा रह ही जाती है। लेकिन कर्म निष्फल नहीं हो सकता है। कर्ममात्र किसी-न-किसी फलका जनक है। इसी प्रकार मोक्षकी भी साधना कांक्षा विद्यमान है कारण, मोक्षका कोई भी साधन विधि-वाक्यके द्वारा विधान कहीं किया गया है। इसलिए नित्य नैमित्तिक कर्मका फल ही मोक्ष है। मोक्षके लिए तत्त्वज्ञानका कोई प्रयोजन नहीं है।

पूर्वोक्त मत प्राचीन मीमांसक सम्प्रदाय विशेषका था। इसके अनुसार नित्य- कर्मके फलस्वरूप ही मोक्ष स्वीकार किया जाता है"[1] इस मतके आचार्यगण संन्यासके अतिशय विरोधी हैं। वस्तुतः संन्यास-विरोधी सम्प्रदायके आचार्यगण विशेषरूपसे इस मतको पुष्ट किये हैं। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि सभी कर्मोंका फल संसाररूप-बन्ध ही है। तथापि नित्य एवं नैमित्तिक कर्मसमूहोंका फल पूर्वोक्त संसाररूप-बन्ध नहीं हो सकता है, कारण नित्य एवं नैमित्तिक कर्मसमूहोंके विधायक श्रुति-वाक्यमें नित्य एवं नैमित्तिक कर्मसमूहोंके किसी भी फलका उल्लेख नहीं किया गया है। फलका अश्रवण रहनेके कारण 'नष्टाश्वदग्धरथ न्यायको[2]

१. द्रष्टव्य बृ० उ० मा० टी० पृ० ४०२

२. इस प्रसंगमें 'नष्टाश्वदग्धरथ न्याय' की अवतारणाका विशेष तात्पर्य है। परस्परके उपकारके लिए जहाँ सम्बन्ध कल्पनाका प्रयोजन होता है वहीं पूर्वोक्त न्यायका आश्रय-ग्रहण किया जाता है। प्रकृत स्थलमें नित्य-नैमित्तिक-कर्मका फल अश्रवण होनेके कारण वह फल साकांक्ष होकर मोक्ष-रूप-फलके साथ युक्त होता है एवं मोक्षरूप-फल भी साधन-साकांक्ष होनेके कारण वह भी नित्यनैमित्तिक-कर्मके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। इस विषयका प्रतिपादन 'नाटचश्वदग्धरथ न्याय' के द्वारा किया गया है। इस न्यायके लिए जिस कहानीकी अवतारणा की गयी है वह इस प्रकार है—दो व्यक्ति अपने रथमें आरूढ़ होकर किसी गाँवमें पहुँचे और रात्रिमें उस गाँवमें ठहरे। लेकिन रात्रिमें उस गाँवमें अग्नि उत्पात हो जानेके कारण एकका अश्व नष्ट हो गया और दूसरेका रथ दग्ध हो गया। इस स्थितिमें एक अश्व-साकांक्ष हो गये तो दूसरा रथ-साकांक्ष हो गये। इस परिस्थितिमें जीवित अश्व एवं बचे हुए रथको साथ संयोजित कर दोनों व्यक्ति अपने गन्तव्यको गये। इसे ही 'नष्टाश्वदग्धरथ' न्याय कहा जाता है।

अवलम्ब न करके मोक्ष ही नित्य नैमित्तिक कर्मसमूहोंका फल है—यही मानना उचित है। कर्मका अनुष्ठान निष्फल नहीं हो सकता है। जब श्रुति-वाक्यके द्वारा नित्य एवं नैमित्तिक कर्मका विधान किया गया है। तब उसका कुछ अवश्य ही फल होगा और नित्य एवं नैमित्तिक कर्मसमूहोंके विधायक श्रुति-वाक्यके द्वारा जब किसी फलका निर्देश नहीं किया गया है तब मोक्ष ही उसका फल कल्पना करना चाहिए।

इस शंकाके समाधानमें भाष्यकारने कहा है कि[1] कर्ममात्र ही फलप्रद है—कोई भी कर्म निष्फल नहीं है—यही श्रुतिका आशय है, और इससे सभी कर्म-फलमें उपसंहृत होनेके कारण उसका काम्यत्व प्रतिपादित हुआ है। कर्ममात्र ही काम्य है। 'एतावान्वे काम:' इत्यादि श्रुतिके द्वारा सभी कर्मसमूहोंका विशेषरूपसे फलके साथ सम्बन्ध प्रतिपादन किया गया है और इससे कर्मके विधायक-वाक्यके द्वारा पशु प्रभृति काम्य जो फल है उसके साथ ही सभी कर्मोंका सम्बन्ध सिद्ध होता है। कर्मके विधायक-वाक्य-विशेषमें फल-विशेषका अगर उल्लेख नहीं किया गया है तो ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिए कि वह कर्म सर्वथा निष्फल है। अन्ततोगत्वा पशु-हिरण्य-प्रभृति काम्य-वस्तु उसका फल हो ही जायगा। और भी बात यह है कि 'कर्मणा पितृलोक:' इत्यादि वाक्यके द्वारा स्पष्टरूपसे कहा गया है कि नित्यादिकर्मानुष्ठानका फल पितृलोककी प्राप्ति है। इसलिए, नित्य एवं नैमित्तिक कर्मका फल मोक्ष नहीं हो सकता है।

भाष्यकार शंकराचार्यने इस विषयको और स्पष्ट करते हुए कहा है कि पत्नीको छोड़कर किसी भी कर्मका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता और यही प्रमाणित करता है कि सभी कर्म काम्य है—सभी कर्मका कामनाके साथ सम्बन्ध है। श्रुतिमें कहा गया है कि 'जाया मे स्यात् एतावान्वैकाम:'। इस श्रुति-वाक्यके द्वारा सभी कर्मोंका जाया सम्बन्ध

१. सर्वंहि पत्नी सम्बद्धं कर्म। 'जाया में स्यादेतावान्वै कामः 'इति निसर्गत एव सर्वकर्मणा काम्यत्वं दर्शयित्वा पुत्रकर्मापरविधानां च 'अयं लोकः पितृलोको देवलोकः 'इति फलं दर्शयित्वा त्र्यन्नात्मकतां चान्त उपसंहरिष्यति 'त्र्यं वा इदं नाम रूपं कर्म इति।

बृ० उ० भा० पृ० १२

प्रतिपादित होता है। जायाके साथ कामनाका सम्बन्ध रहनेके कारण काम ही सभी कर्मोंका उपायभूत है। पूर्वोक्त श्रुतिके द्वारा सभी कर्म-समूहका स्वभावतः काम्यत्व प्रतिपादन किया गया है।

इसमें प्रश्न हो सकता है कि काम ही अगर सभी कर्मोंका उपायभूत है तब कर्मसमूहोंके फलमें भेद क्यों होता है ? सभी कर्म-समूहोंका उपाय काम-मात्र होनेके कारण कर्ममें कोई भी वैलक्षण्य प्रतीत नहीं होना चाहिए और इससे कर्मसमूहोंका फल भी एक रूप होना चाहिए। परन्तु, श्रुतिमें तत्-तत् कर्मका भिन्न-भिन्न फल कहा गया है—यह कैसे उपपन्न हो सकता है ?

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि फल केवल कर्मके साथ सम्बद्ध नहीं है। पुत्र, कर्म एवं अपर विद्या इन तीनोंका यथाक्रममें इहलोक, पितृलोक एवं देवलोक फल-रूपमें प्रदर्शन किया गया है।[1] पुत्रमें जाया सम्बन्ध विद्यमान है जिसका फल इहलोक है। इहलोक पुत्रके ही द्वारा जय किया जाता है—यही पुनः-पुनः श्रुतिमें कहा गया है। इसी भाँति दर्शपूर्णमासादि शुद्ध-कर्मानुष्ठानका फल है देवलोककी प्राप्ति। इसलिए, फल-भेदका उल्लेख श्रुतिमें जो कहा गया है—वह उपपन्न होता है। जैसे कर्मसे सम्बद्ध है वैसे ही पुत्र एवं अपर विद्यासे भी सम्बद्ध है।

पुनः प्रश्न होता है कि फलका विभाग अगर प्रदर्शितरूपसे किया गया है तब क्यों अश्वमेध-कर्मका फल हिरण्यगर्भावस्था प्राप्तिरूप कहा गया है ? कारण, प्रदर्शित फल-विभागमें कहा गया है कि कर्मका फल है पितृलोक-प्राप्ति।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि कर्मका फल हिरण्यगर्भतारूप-प्राप्ति है। इसका प्रदर्शन बृहदारण्यक उपनिषद्के प्रथम अध्यायके अन्तमें 'त्र्यं वा इदं नामरूपम्[2] कर्म' इत्यादि श्रुतिके द्वारा किया गया है। इसलिए, अश्वमेधका फल जो हिरण्यगर्भतारूप-प्राप्ति कहा गया है—इसमें कोई विरोध नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद्के प्रथम अध्यायके उपसंहारमें आम्नात पूर्वोक्त श्रुतिका निष्कर्ष यही है कि सभी कर्मोंका

१. बृ० उ० १।५।१६
२. बृ० उ० १।६।१

फल व्याकृत संसार ही है। स्थावरसे लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्त व्याकृत संसार कहा जाता है।[१]

ये तीनों नाम, रूप एवं कर्म सृष्टिके पूर्वमें अव्याकृत-अनभिव्यक्त-अवस्थामें विद्यमान था। वही अव्याकृत संसार पुनः सभी प्राणियोंके कर्मके कारण ही अभिव्यक्त होता है। इसमें ध्यान देने योग्य विषय यह है कि समस्त प्राणियोंके कर्मके फलस्वरूप यह संसार उत्पन्न होता है—केवल एक प्राणीके कर्मके फलस्वरूप यह संसार व्याकृत नहीं होता। इसके दृष्टान्तमें भाष्यकारने कहा है कि बीज वृक्षकी अव्याकृतावस्था है तथा वृक्ष बीजकी व्याकृतावस्था है। जिस प्रकार अव्याकृत बीजावस्थासे वृक्षावस्थाकी अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार संसारके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। अव्याकृत संसारके व्याकरणसे कर्म ही कारण है। समस्त प्राणियोंके कर्म ही इस संसारका कारण है यह पहले कहा जा चुका है।

शंका होती है कि यह व्याकृत एवं अव्याकृत-रूप संसार, अगर प्रमाणके द्वारा सिद्ध स्वीकार किया जाय तब तो यह संसार सत्य हो जायगा और इससे कभी भी मोक्ष उत्पन्न नहीं होगा। संसार जो बन्ध-रूप है—यह पुनः कहा जा चुका है।

इस शंकाके समाधानमें भाष्यकारने कहा है कि संसारका उपादान अविद्या है—अविद्यासे ही संसारकी उत्पत्ति होती है। इसलिए, यह अविद्यक संसार भ्रम-ज्ञानका विषय होनेके कारण प्रमाणके द्वारा इसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है। अतः इस संसारकी सत्यता स्वीकार नहीं की जा सकती।

---

२. पत्नीसंबन्धे मानमाह—जायेति। तथाऽपि कथं कर्मणः सर्वस्य कामोऽयत्वं तत्राऽऽह—ऐतावान्वे काम इति। कथं तर्हि तेषां फलभेदो लभ्यते तत्राऽऽह-पुत्रेति। अथैवं फलविभागे कथं समष्टिव्यष्टिप्राप्तिफलत्वमश्वमेधस्योक्तमत आह—त्र्यन्नात्मकतां चेति। अस्याध्यायस्यावसाने कर्मफलस्य हिरण्यगर्भ-रूपतां त्र्यमित्याधा श्रुतिरूपसंहरिष्यतित्यर्थः। उपसंहार श्रुतेस्तात्पर्यमाह-सर्वकर्मणामिति।

बृ० उ० भा० टी० पृ० १२

यह पहले कहा जा चुका है कि इस संसारकी व्याकृतावस्था-सृष्टि, एवं अव्याकृतावस्था-प्रलय-अविद्याके अन्तर्गत हैं। यह संसार क्रिया कारक एवं फल रूपमें आत्मामें आरोपित होता है। आशय यह है कि आत्मामें क्रियाका सम्बन्ध उसका कर्तृत्व एवं उसका फल भोक्तृत्व आरोपित किया जाता है। यह आरोप अविद्या-प्रयुक्त है। आत्मा एक और अभिन्न है। इसमें क्रियाका सम्बन्ध, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि द्वैत जाल अविद्या-निबन्धन ही आरोपित होता है। इस प्रसंगमें मूर्त ब्राह्मणमें कहा गया है कि ब्राह्मणके दो रूप हैं—मूर्त एवं अमूर्त।[1] क्षिति, अप एवं तेज मूर्त रूप है एवं आकाश और वायु अमूर्त रूप हैं। यह मूर्त एवं अमूर्त रूप अविद्याके द्वारा आत्मामें अध्यारोपित होता है। मात्र यही नहीं, मूर्त, अमूर्त एवं उसकी वासना-रूपमें विभक्त जो संसार है वह आत्मामें अविद्याप्रयुक्त आरोपित है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि इस संसारका विभाजन भिन्न-भिन्न रूपमें किया गया है। कहीं इनको नाम, रूप एवं कर्ममें तो कहीं मूर्त, अमूर्त एवं उसकी वासना-रूपमें विभाजन किया गया है। जो भी हो, ये सब द्वैत-प्रपञ्च-जाल आत्मामें अविद्या-निबन्धन आरोपित हैं।

इसमें शंका होती है कि आत्मामें तो पूर्वोक्त आरोप उपपन्न नहीं हो सकता; कारण, आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव है, इसलिए, वह द्वैत वर्गसे विलक्षण है। अतः जो आत्मासे विलक्षण है उसको आत्मामें कैसे अध्यास किया जायगा? अध्यासमें तो अध्यस्त एवं अधिष्ठानका सादृश्य अपेक्षित है। जब आत्मा और द्वैत-प्रपञ्चमें कोई सादृश्य नहीं है तब वैसी स्थितिमें आत्मामें द्वैतका आरोप कैसे हो सकता है? आत्मा अनाम, अरूप, अकर्मात्मक एवं अद्वय है, इसलिए तो, वह संसारसे विलक्षण है। अतएव आत्मामें संसारका आरोप कैसे सम्भव हो सकता है?

इसके समाधानमें कहा गया है कि 'मैं कर रहा हूँ, 'मैं भोगकर रहा हूँ', मैं प्रमाणके द्वारा ज्ञान अर्जन कर रहा हूँ, इत्यादि अनुभव

१. द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च।
स्थितं च यच्च सच्च त्यं च ॥ १ ॥

बृ० उ० २।३।१

पूर्वोक्त आरोपमें स्पष्ट प्रमाण है। 'मैं कर्त्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ', 'मैं प्रमाता हूँ' इत्यादि अनुभव ही पूर्वोक्त अध्यासको प्रमाणित करता है।[१] आत्मा एवं क्रिया-कारकादि इन दोनोंमें सादृश्य नहीं रहनेपर भी आत्मामें क्रियाकारकादिका अध्यास सम्भव होता है। जिस प्रकार आकाश और मलिनत्वादिमें सादृश्य नहीं रहनेपर भी आकाशमें मलिनत्वादिका आरोप होता है उसी प्रकार प्रकृत-स्थलमें भी समझना चाहिए। आकाशमें मलिनत्वादिके अध्यासकी ही भाँति आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रमातृत्वादिका अध्यास भी अनुभव-सिद्ध है। इसलिए, सविलासकार्यके साथ अविद्याका निवर्त्तक जो ब्रह्म-विद्या है उसकी प्राप्ति करानेके लिए उपनिषद्का आरम्भ होता है।

भाष्यकारने स्पष्ट करते हुए कहा है कि अविद्यासे ही मूर्त, अमूर्त और उनकी वासनारूप यह संसार क्रिया, कारक और फलरूपमें भासमान होता है। इस संसारको संक्षेपमें साध्य एवं साधन इन दो भागोंमें विभाजन किया जाता है। पूर्वोक्त संसारसे विरक्त पुरुषकी कामादि-दोष एवं कर्मोंकी बीजभूता जो अविद्या है, उसकी निवृत्तिके लिए यह ब्रह्मविद्या-उपनिषत् आरम्भ किया गया हैं। तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। इसके दृष्टान्तमें भाष्यकारने कहा है कि रस्सीमें जब सर्पका भ्रम-ज्ञान होता है तब रस्सी-विषयक यथार्थ ज्ञानके द्वारा ही सर्प-विषयक भ्रामक-ज्ञान निवृत्त होता है। लोक-व्यवहारमें जब यह अनुभव सिद्ध है तब इसके द्वारा यही प्रमाणित होता है कि तत्त्वज्ञानके द्वारा अज्ञानको भी निवृत्ति होती है। कारण, ज्ञान अज्ञानका निवर्त्तक

१. सर्वकर्मणां फलं व्याकृतं संसार एवेति। इदमेव त्रयं प्रागुत्पत्तेस्तद्व्याकृतमासीत्। तदेव पुनः सर्वप्राणिकर्मवशाद्व्याक्रियते बीजादिव वृक्षः। सोऽयं व्याकृताव्याकृतरूपः संसारोऽविद्याविषयः क्रियाकारकफलात्मकतयाऽऽत्मरूपत्वेनाध्यारोपितोऽविद्ययैव मूर्तामूर्ततद्वासनात्मकोऽतो विलक्षणोऽनामरूपकर्मात्मकोऽद्वयो, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि क्रिया कारकफलभेदादिविपर्ययेणावभासते। अतोऽस्मात्क्रियाकारकफलभेदस्वरूपादेतावदिदमितिसाध्यसाधनरूपाद्विरक्तस्य कामादिदोषकर्मबीजभूताविद्यानिवृत्तये रज्ज्वामिव सर्पविज्ञानापनयाय ब्रह्मविद्याऽऽरभ्यते।

बृ० उ० भा० पृ० १२-१३

होता है—यह सर्वथा निर्विवाद है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा अद्वय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव है। आत्माके इस स्वाभाविकरूपके प्रदर्शन करनेके लिए ही ब्रह्मविद्याका आरम्भ किया गया है।[1]

अश्वमेध-ब्राह्मण

यह पहले कहा जा चुका है कि अश्वमेध सभी कर्मोंमें प्रधान है और अश्वमेध-यज्ञका कर्मानुष्ठान तथा उसके विज्ञानका फल समान ही है। अब, अश्वमेध-विज्ञानके लिए 'ॐ उषा वा अश्वस्य' इत्यादि वाक्यके द्वारा बृहदारण्यक उपनिषद् आरम्भ किया गया है। इसके द्वारा अश्व-विषयक विज्ञान प्रदर्शन किया गया है।

इसमें प्रश्न होता है कि अश्वमेध-विषयक जो विज्ञान है वह अश्व-मात्रको लेकर क्यों कहा गया है? कारण, अश्वमेध यज्ञमें बहू अंगकी अपेक्षा होती है जिसमें अश्व तो केवल एक अंग है। तब अश्व-रूप अंग-मात्रकी ही उपासनाका उपदेश क्यों दिया जा रहा है?

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है, अश्वमेध-यज्ञमें अपेक्षित सभी अंगोंमें अश्व ही प्रधान है; क्योंकि, अश्वमेध-याग अश्व-नामके द्वारा अंकित होनेके कारण यह समझा जाता है कि अश्वमेधमें अश्व ही प्रधान है, और भी बात यह है कि प्रजापति अश्वके अधिष्ठाता देवता हैं। इसलिए भी, प्रजापतिके प्राधान्य निबन्धसे अश्वका भी प्राधान्य

---

१. स एष हि भ्रान्तिविषयो न प्रामाणिकस्तत्कुतोऽस्य सत्यतेत्यर्थः। कथमस्याऽऽत्मन्यद्वये कूटस्थे प्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—क्रियेति। समारोपे मूलकारणमाह–अविद्ययेति। आत्मन्यविद्यारोपितं द्वैतमित्यत्र द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे मूर्तं चैवामूर्त्तं चेत्यादिवाक्यं प्रमाणयति–मूर्तेति। नन्वात्मन्यारोपोनोपपद्यते तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य द्वैत विलक्षणत्वादसति साहश्येऽध्यासासिद्धेरत आह–अत इति। संसाराद्वैलक्षण्यमेव प्रकटयति–अनामेति। आदिपदेनान्येऽपि विपर्ययभेदाः संगृह्यन्ते। आरोपे प्रमिणोमि करोमि भुञ्जे चेत्यनुभवं प्रमाणयति–अवमासत इति। आत्मन्यध्यासः साहश्याद्यमविऽपि नमसि मलिनत्वादिवद्यतोऽनुभूयतेऽतः सविलासाविद्यानिवर्तक ब्रह्मविद्यार्थत्वेनोपनिषदारम्भः संभवतीत्युपसंहरति—अत इति।

बृ० उ० भा० टी० पृ० १२-१३

प्रतिपादित होता है। अश्व जो प्रजापतिका स्वरुप है—यह तैत्तिरीय संहितामें स्पष्ट रूपसे कहा गया है।[१]

इस प्रसंगमें कहा गया है कि उषा मेध्य यज्ञीय अश्वका शिर है। शास्त्र एवं लोक-व्यवहारमें प्रसिद्ध जो ब्राह्ममुहूर्त्त है वही उषा है। दिनावयवमें उषा जिस प्रकार प्रधान है उसी प्रकार अश्वके अवयवोंमें उसका शिर ही प्रधान हैं। अतः अश्वके शिर और उषामें प्राधान्य गुण योग रहनेके कारण अश्वके शिरमें उषाकी दृष्टि-आरोप करनेके लिए कहा गया है।

अब, यहाँ एक प्रश्न होता है कि अश्वके शिरमें उषारूप कलादि दृष्टि करनेके लिए क्यों कहा गया है? उषारूप कालमें ही अश्वके शिरकी दृष्टि करनेके लिए क्यों नहीं कहा गया?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि अश्व शिरमें ही उषाकी दृष्टि करनी चाहिए कारण, दृष्टि आरोप-भावनारूप हैं -यह पहले ही कहा जा चुका है, और जिसमें जिसकी दृष्टि की जाती हैं उसके द्वारा वह वस्तु संस्कृत होता हैं। प्रकृति स्थलमें अश्व हैं यज्ञका अंग जिसे संस्कृत होनेसे यज्ञमें विनियोग लाभ होता हैं। उषा यज्ञका अंग नहीं हैं, इसलिए उसे संस्कृत करानेसे कोई भी फल नहीं होगा। इसलिए अश्व शिरकी भावना उषामें करनेके लिए नहीं कहा गया है। परन्तु अश्वमेधिका अश्वके शिरमें ही उषाकी दृष्टि करनेके लिए निर्देश दिया गया है। अश्वमेधका अंग जो अश्व है उसके शिरमें यज्ञका अनंग उषाकी दृष्टि करनेके लिए क्यों कहा गया है इसमें और भी कारणान्तर कहा गया है कि उसके द्वारा अश्वका प्रजापतित्व सिद्ध हो जायगा क्योंकि, जिसमें जिसकी दृष्टि की जाती है वह वहीं बन जाता है—यह विशुद्ध अनुभवका विषय है।

इसमें प्रश्न होता है कि कालादिकी दृष्टि अश्वावयवमें आरोप किया जाता है; परन्तु इसके द्वारा अश्वका प्रजापत्तिव कैसे निष्पन्न हो जायगा?

उत्तरमें कहा गया है कि प्रजापति कालादि-स्वरुप है और जिस प्रकार प्रतिमामें विष्णुकी दृष्टिके द्वारा प्रतिमाका विष्णुत्वकरण

१. देखें तै० सं० ७।५।२५, २६

किया जाता है उसी प्रकार अश्वावयव-समूहमें कालादि-दृष्टियोंके द्वारा अश्वका प्रजापतित्वकरण होता हैं। अश्वमेध-यज्ञाधिकारी राजादि विद्यमान यज्ञीय-अश्वके अवयव-समूहमें कालादि दृष्टियोंके द्वारा अश्वमेध कर्मको वीर्यवत्तर करेगा और अश्वमेध-यज्ञमें जो अनधिकारी है वे अश्व विद्यमान नहीं रहनेके कारण स्वयंको ही अश्वरूपसे कल्पनाकर अपने शिर प्रभृति अवयव-समूहमें कालादि दृष्टियोंके द्वारा अपना प्रजापतित्व सम्पादित करे--'मैं प्रजापति हूँ'—इस ज्ञानके द्वारा वह प्रजापति का स्वरूप लाभ करता है। भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि[1] यज्ञीय पशुमें काल, लोक एवं देवत्वका अध्यारोप ही पशुका प्रजापतित्वकरण समझना चाहिए। कारण, काल-लोक एवं देवत्वरूप ही प्रजापति है। जिस प्रकार प्रतिमादिमें विष्णुत्वादिकरण आरोपके द्वारा निष्पादन किया जाता है उसी प्रकार यह अश्व उक्त रूपसे प्रजापति है।[2]

१. उषा इति ब्राह्मो मुहूर्त्तं उषा। वै शब्दः स्मरणार्थः प्रसिद्धं कालं स्मारयति। शिरः प्राधान्यात्। शिरश्च प्रधानं शरीरावयवनाम। अश्वस्यामेध्यस्य मेधार्हस्य यज्ञियस्योषाः शिर इति सम्बन्धः।

कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्तव्यत्वात्कालादिदृष्टयः शिर आदिषु क्षिप्यन्ते। प्राजापत्यत्वं च प्रजापतिदृष्ट्यध्यारोपणात्। काललोकदेवतात्वाध्यारोपणं च प्रजापतित्वकरणं पशोः। सर्वरूपो हि प्रजापतिः। विष्णुत्वादिकरणमिव प्रतिमादौ। बृ० उ० भा० टी० पृ० १

२. अश्वमें प्रजापति दृष्टि करनेका निर्देश किया गया है। लेकिन, प्रजापति सर्वलोकात्मक है, अतः अश्व शरीरमें समस्त लोकका आरोप करना चाहिए। क्योंकि, यह पहले ही कहा गया है कि प्रजापति काल, लोक एवं देवतात्मक है तथा काल, लोक एवं देवताको लेकर ही सर्वलोक कहा गया है। इसलिए, बृहदारण्यक उपनिषद्में उषाके द्वारा अश्वके शिरमें प्रजापतित्वका आरोप किया गया है। इसके द्वारा अश्वमेधिक अश्वको प्रजापति सर्वलोकात्मक किया जाता है। इसलिए यह आक्षेप कि उषाकी दृष्टि ही अश्वमें आरोप किया जाता है—प्रजापतिकी दृष्टि आरोप नहीं किया जाता है। सर्वथा अकिञ्चित्कर है। क्योंकि प्रजापति ही उषारूप-काल है। क्षत्रीय यज्ञीय अश्वमें एवं ब्राह्मणादि अपने शरीरमें ही प्रजापति भावना करेगा यह पूर्वमें स्पष्ट-रूपसे कहा गया है।

सूर्य उस अश्वका चक्षु हैं। शिरके अनन्तर चक्षु विद्यमान रहता है और चक्षुके सूर्य अधिदेवता हैं। इसलिए अश्वके चक्षुमें सूर्यकी दृष्टिकी अध्यारोप करनेके लिए कहा गया है। इस विषयको स्पष्ट करते हुए आनन्दगिरिने कहा है कि[1] जिस प्रकार उषा ब्राह्ममुहूर्तके अव्यवहित बाद सूर्य दिखायी देता है, उसी प्रकार शिरके अव्यवहित बाद चक्षु दिखायी देता है। इसलिए, अश्व-चक्षुमें सूर्य की दृष्टिका कथित अध्यारोप सर्वथा समीचीन है। ओर कारण बताते हुए उन्होंने 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणो प्राविशत्' इस श्रुतिका उल्लेख किया है। इस श्रुतिसे यह स्पष्ट है कि सूर्य ही चक्षुमें अधिष्ठातृ देवता हैं। और चक्षुका अधिष्ठातृ देवता सूर्य होनेके कारण वे चक्षुके अतिशय समीप हैं। इसलिए, अश्वके चक्षुमें सूर्यका आरोप सर्वथा युक्त्युपारूढ़ है।

इस प्रकार अश्वके प्रमाणमें वायुकी दृष्टिका अध्यारोप करना चाहिए। क्योंकि, प्राण वायुके स्वभावका है; इसलिए दोनोंमें चलन-स्वभावका सादृश्य है। अश्वका विवृत मुख वैश्वानर अग्नि है।

प्रश्न हो सकता है कि वैश्वानर एवं अग्नि ये दोनों तो पर्यायवाची हैं, तब दोनों साथ कहनेकी क्या आवश्यकता है? दोनोंमें से किसी एकको क्यों नहीं कहा गया?

उत्तरमें कहा गया है कि क्रव्यादादि अग्निको व्यावृत्त-निषेध करनेके लिए अग्निका विशेषणरूपमें 'वैश्वानर शब्दका व्यवहार किया गया है। श्रुतिमें कहा गया है कि 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्।' अतः मुखके देवता अग्नि होनेके कारण अश्व विवृत मुखमें वैश्वानर अग्निकी दृष्टिका आरोप करनेको कहा गया है।

इस प्रकार संवत्सर-द्वादश अथवा त्रयोदश मासरूप अश्वकी आत्मा है। इस प्रसंगमें आत्मा शब्दका अर्थ शरीर है। अश्व शरीरमें संवत्सरकी दृष्टि करनेके लिए कहा गया है। इसका कारण है जैसे कालके अवयव-

१. उषसोऽनन्तरत्वं सूर्यं दृष्टं चक्षुषि च शिरसोऽनन्तरत्वं दृश्यते तस्मात्तत्र तद्दृष्टिर्युक्तेत्यर्थः। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—सूर्येति। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत् इति श्रुतेश्चक्षुषि सूर्योऽधिष्ठात्री देवता तेन सामीप्यात्तत्र तद्दृष्टिरित्यर्थः। बृ० उ० भा० टी० पृ० १५

समूहको मिलाकर संवत्सर-रूप कालका शरीर बनता है वैसे ही हस्तादि-अंग-समूहको मिलाकर अश्वकी आत्मा शरीर कहा गया है। संवत्सर जिस प्रकार कालावयव-समूहकी आत्मा शरीर है उसी प्रकार हस्तादि-अंग-समूहको आत्मा शरीर कहा गया है। इसमें श्रुति ही प्रमाण है। श्रुतिमें कहा गया है कि 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा'—इन सब अंगोंका मध्य भाग आत्मा है। अतः 'आत्मा' शब्द शरीर अभिप्रायमें प्रयुक्त हुआ है। कालावयव-समूहकी आत्मा संवत्सर होनेका कारण अश्वके शरीरमें संवत्सरका आरोप करनेके लिए निर्देश हुआ है। 'अश्वस्य मेध्यस्य'की पुनरुक्ति इसका सबके साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करनेके लिए है।[1]

इस प्रकार अश्वके पृष्ठ-देशमें द्युलोककी दृष्टि करनी चाहिए; क्योंकि, दोनोंमें ऊर्ध्वत्वरूप-समानता विद्यमान है। अन्तरिक्ष और उदरमें सुषिरत्व-छिद्रत्वरूपमें सादृश्य विद्यमान रहनेके कारण मेध्य अश्वके उदरमें अन्तरिक्षकी दृष्टि करनी चाहिए। अश्वके खुरमें पृथ्वीकी दृष्टि करनेके लिए कहा गया है; कारण, जैसे पृथ्वी सभी प्राणियोंके पाँव रखनेका स्थान है वैसे ही अश्वके पाँव रखनेका स्थान उसका खुर है। यहाँ 'पृथ्वी पाजस्यं'का वैदिक प्रयोग हुआ है। पार्श्वसे दिशाओंका सम्बन्ध होनेके कारण उस अश्वके दोनों पार्श्वोंमें चारों दिशाओंकी दृष्टि करनी चाहिए।

यहाँ एक शंका उठती है कि जब अश्वके पार्श्वोंकी संख्या दो है और दिशाओंकी संख्या चार है तब दो पार्श्वोंमें चार दिशाओंका आरोप कैसे सम्भव है? अश्वके दो पार्श्वोंके साथ दो ही दिशाओंका सम्बन्ध हो सकता।

---

१. सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात्सूर्याधिदैवतत्वाच्च। वातः प्राणो वायुस्वाभाव्यात्। व्यात्तं विवृतं मुखमग्निर्वैश्वानरः। वैश्वानर इत्यग्नेर्विशेषणम्। वैश्वानरो नामाग्निर्विवृत्तं मुखमित्यर्थो मुखस्याग्निदैवतत्वात्। संवत्सर आत्मा संवत्सरो द्वादशमासस्त्रयोदशमासो वा। आत्मा शरीरम्। कालावयवानां च संवत्सरः शरीरं शरीरं चाऽऽत्मा 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा' इति श्रुतेः। अश्वस्य मेध्यस्येति सर्वत्रानुषङ्गार्थं पुनर्वचनम्।

बृ० उ० मा० टी० पृ० १५

उत्तरमें कहा गया है कि यद्यपि केवल दो ही दिक् अश्वके दो पार्श्वों के साथ सम्बन्ध करता है तथापि अश्वके मुख सभी दिशाओंकी ओर हो जानेके कारण उसके दोनों पार्श्वोंका सभी दिकोंके साथ सम्बन्ध होता है। अश्वको पूर्व और पश्चिमकी ओर मुख करनेसे उत्तर एवं दक्षिण दिशाके साथ उसके दोनों पार्श्वोंका सम्बन्ध होता है इस प्रकार अश्वको उत्तर एवं दक्षिणकी ओर मुख करनेसे पूर्व एवं पश्चिम दिशाओंके साथ अश्वके दोनों पार्श्वोंका सम्बन्ध होता है। इसलिए, अश्वके दोनों पार्श्वोंमें चार दिशाओंकी दृष्टि करनेके लिए दिया गया उपदेश सर्वथा समीचीन है। फिर, अश्वके पार्श्व भागकी अस्थियोंमें आग्नेयी-प्रभृति अवान्तर-दिशाओंकी दृष्टि करनी चाहिए। पार्श्वके साथ दिक्का सम्बन्ध रहनेके कारण अश्वके पार्श्व भागकी अस्थि समूहमें अवान्तर दिक्-ममूहकी दृष्टिका आरोप सर्वथा समीचीन है।[1]

अश्वके अंग-समूहमें ऋतु-समूहकी दृष्टि करनी चाहिए। क्योंकि, ऋतु-समूह संवत्सरका अंग होनेके कारण अश्वके अंग-समूहमें तथा ऋतु-समूहमें अंगत्व-सहधर्म विद्यमान है।

इस प्रकार अश्वके पर्वसन्धि-समूहमें मास एवं अर्धमासकी दृष्टि करनेका उपदेश दिया गया है। क्योंकि, मासादिमें संवत्सरके सम्बन्धकी ही भाँति पर्व सन्धि-समूहका भी शरीरके साथ सम्बन्ध विद्यमान है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मास एवं अर्धमास-पक्ष कालकी सन्धि है।

अश्वके चार पादमें चार प्रकारके अहोरात्रकी दृष्टिका आरोप उचित है। चार प्रकारके अहोरात्र हैं—(१) प्रजापत्य, (२) देव, (३) पित्र्य और (४) मानुष। इसमें प्रजापतिका एक अहोरात्र दो सहस्रयुगका होता है। देवताओंका एक अहोरात्र उतरायण और दक्षिणायनरूप

१. द्यौः पृष्ठम्। ऊर्ध्वत्वसामान्यात्। अन्तरिक्षमुदरं सुषिरत्वसामान्यात् पृथिवी पाजस्यं पादस्यमिति वर्णव्यत्ययेन पादासनस्थानमित्यर्थः। दिशश्चतस्रोऽपि पार्श्वे पार्श्वेन दिशां सम्बन्धात्। पार्श्वयोर्दिशां च संख्यावैषम्यादयुक्तमिति चेतान्। सर्वमुखत्वोपपत्तेरश्वस्य पार्श्वाभ्यामेव सर्वदिशां सम्बन्धाददोषः। अवान्तरदिश आग्नेय्याद्याः पर्शवः पार्श्वास्थीनि।

बृ० उ० भा० टी० पृ० १५-१६

निष्पन्न होता है, एक पित्र्य-अहोरात्र शुक्ल-पक्ष एवं कृष्णपक्षके द्वारा होता है एवं एक मानुष-अहोरात्र साठ-घटिकाके द्वारा परिनिष्पन्न होता है। काल पूर्वोक्त चार प्रकार-अहोरात्रके द्वारा अवस्थान करता है और अश्व अपने चार पादके द्वारा अवस्थान करता है। दोनोंमें यही सामर्थ्य रहनेके कारण यज्ञीय अश्वके चार पादमें चार प्रकारके अहोरात्रकी दृष्टि करनेके लिए कहा गया है।

फिर, शुक्लत्वगुण-रूप सादृश्य विद्यमान रहनेके कारण अश्वका अस्थि-अमूहमें नक्षत्रकी दृष्टि करनेके लिए कहा गया है। अश्वके मांस-समूहमें नभः-मेघकी दृष्टिका आरोप करना चाहिए, कारण, मेघ-समूह और मांस-समूह दोनों क्रमशः जल और रुधिर सिंचन करते हैं।[1] सिंचन क्रियाका कर्तृत्व-रूप सामान्य धर्म दोनोंमें विद्यमान होनेके कारण अश्वके मांस-समूहमें मेघकी दृष्टिका आरोप करनेके लिए कहा जाना उचित ही है।[2]

अश्वके उदर-स्थित अर्धजीर्ण भक्षमें सिकता-बालूकी दृष्टि करनी चाहिए, कारण, दोनोंके अवयव विश्लिष्ट हैं। अश्वके गुदा-समूह-नाड़ी-समूहमें नदी-समूहकी दृष्टि रखना चाहिए, कारण दोनोंमें स्यन्दन-प्रवाह-रूप सादृश्य विद्यमान है।[3] अश्वके यकृत् एवं क्लोमा दोनोंमें पर्वत-समूहकी

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है 'नभो मांसानि।' साधारणतः नभः शब्दका अर्थ अन्तरिक्ष है; लेकिन, वर्तमान-प्रसंगमें यह अन्तरिक्ष अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है। पूर्वमें ही अश्वके उदरमें अन्तरिक्षकी दृष्टिका आरोप करनेके लिए कहा गया है, इसलिए, इस प्रसंगमें भी नभः शब्दसे अन्तरिक्ष ग्रहण करनेपर पुनरुक्ति हो जायगी। अतएव भाष्यकार शंकराचार्यने नभः शब्दका अर्थ यहाँ नभस्था-मेघसमूह-ग्रहण किया है।

२. कृतवोऽङ्गानि संवत्सरावयवत्वादङ्गसाधर्म्यात्। मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणिः संधयः संधिसामान्यत।० अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः। बहुवचनात्प्राजापत्यदैव-पित्र्यमानुषाणि प्रतिष्ठाः पादाः प्रतितिष्ठत्येतैरिति। अहोरात्रैर्हि कालात्मा प्रतितिष्ठत्यश्वश्च पादैः। नक्षत्राण्यस्थीनि शुक्लत्वसामान्यात्। नभो नभस्था मेघा अन्तरिक्षस्योदरत्वोक्तेर्मांसान्युदकरुधिरसेचनसामान्यात्।
बृ० उ० भा० टी० पृ० १६

३. गुदाः शब्द बहुवचनान्त होनेके कारण लोक-प्रसिद्ध नितम्ब अर्थका बोधक हो सकता है।

दृष्टि आरोप करनी चाहिए। कारण, काठिन्य तथा उच्छ्रित्व दोनोंमें है। क्लोमा हृदयके अधोभागमें उत्तर और दक्षिण पार्श्वमें दो मांस-खण्डका नाम है। इस प्रकार अश्वके लोम-समूहमें औषधि एवं केश-समूहमें वनस्पतिकी दृष्टि आरोप करनी चाहिए।[1] वनस्पतिकी अपेक्षा औषधि क्षुद्र स्थावर है तथा औषधिकी अपेक्षा वनस्पति महान् स्थावर है। इसलिए, क्षुद्रत्वरूप समानताके कारण अश्वके लोम-समूहमें ओषधिकी दृष्टि तथा महानतारूप सादृश्यके कारण अश्वके केश-समूहमें वनस्पतिकी दृष्टि आरोपित करना चाहिए।

मध्याह्नके पूर्व कालमें अवस्थित आदित्यकी दृष्टि अश्व-शरीरके पूर्वार्ध-नाभिसे लेकर उर्ध्व पर्यन्त भागमें करनी चाहिए। कारण, दोनोंमें पूर्वत्व समान धर्म है। इस प्रकार मध्याह्नके परवर्ती आदित्यकी दृष्टि अश्वके नाभिसे पश्चात् भाग पर्यन्त करनी चाहिए। क्योंकि, दोनोंमें अपरत्वरूप सादृश्य विद्यमान है।

अश्वका विजृम्भण-मुख खोलना तथा गात्र-विनामन-विक्षेपमें क्रमशः विद्योतन तथा मेघ गर्जनकी दृष्टि करनी चाहिए। कारण, विजृम्भण और विद्योतनमें यथाक्रमसे मुख एवं मेघका विदारण होनेसे दोनोंमें विदारणरूप सादृश्य विद्यमान है तथा अश्वके गात्र-कम्पन-क्रिया एवं मेघ-गर्जन इन दोनोंमें गर्जन शब्द व्यवहृत होता है। फिर, सिंचनरूप सहधर्म विद्यमान रहनेके कारण अश्वके मूत्र-त्यागमें वर्षणकी दृष्टि करनी चाहिए। शब्द ही अश्वका वाक् है। इसलिए, अश्वके हेषित शब्दमें कोई आरोप नहीं है, कारण, संसारमें प्रसिद्ध शब्द ही अश्वका हेषित शब्द है। अतः अश्वके हेषा और शब्दमें कोई भेद नहीं है।[2]

१. साधारणतया ओषधि उस पौधेको कहते हैं जिसका विनाश फल परिपक्व होनेसे हो जाता है यथा जौ, गेहूँ, धान प्रभृतिका पौधा औषधि है। फिर, महान् वृक्षको वनस्पति कहा जाता है। यद्यपि इस प्रसंगमें मतभेद विद्यमान है तथापि वर्तमान लेखमें वे अपेक्षित नहीं हैं, अतः उसके विस्तृत पर्यालोचनसे हमलोग विरत हो रहे हैं।

२. ऊवध्यमुदरस्थमर्धजीर्णमशनं सिकता विश्लिष्टावयवत्वसामान्यात्। सिन्धवः स्यन्दनसामान्यान्नद्यो गुदानाड्यो बहुवचनाच्च। यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ। क्लोमान इति नित्यं बहुवचनमेकस्मिन्नेव

इस प्रसंगमें अश्वके विभिन्न अंगोंमें विभिन्न प्रकारकी दृष्टियोंका अध्यारोपके द्वारा उपासना-विषयक दिये गये उपदेशोंका गम्भीर तात्पर्य है। अश्व स्वयं भावना नहीं कर सकता। इसलिए, अश्वमेधाधिकारी भावनाके द्वारा ही अश्व प्रजापतिरूपता प्राप्त करता है। आज कल भी पौराणिक एवं तान्त्रिक पूजाके अवसरपर छागोत्सर्ग-प्रभृति वैदिक मन्त्रोंके द्वारा ही निष्पन्न होता है। वे मन्त्र-समूह शुक्ल-यजुर्वेदमें आम्नात हुए हैं। उसमें 'अग्निः पशुरासीत्' इत्यादि मन्त्रके द्वारा यह प्रदर्शन किया गया है कि वायु, सूर्य, अग्नि प्रभृति भी पूर्वमें पशुरूपसे विद्यमान थे। उन्होंने पशुमूर्त्तिसे यज्ञमें विनियुक्त होकर श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया है और इस कारण कहा गया है कि यज्ञकी हिंसा-हिंसा नहीं है।

परिच्छिन्नता ही पाप है। वायु परिच्छिन्न होनेसे ही दुष्ट होता है, परन्तु, महावायु एवं महाजल-समुद्रका जलराशि = दुष्ट नहीं होता है। इसलिए, वेदान्त-शास्त्रमें पुनः-पुनः कहा गया है कि सर्वतोरूपमें ममकारको त्यागना चाहिए। अगर ममकार त्याग करना सम्भव नहीं हो तब तो सभी पदार्थोंमें ममकार—'सभी पदार्थ हमारे ही हैं' की कल्पना करनी चाहिए और इस सर्वात्मभावनाके द्वारा ही कल्याण हो जायगा। सर्वात्म भावना प्राप्त होनेसे पाप स्पर्शतक नहीं कर सकता। परिच्छिन्नता ही पाप है—यह पहले ही कहा गया है। अश्वमेधका उद्देश्य ही है सर्वात्माभावना। श्रुति भी कहती है कि 'यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम् भवति।' अश्वमेधाधिकारी राजा इस भावनाके द्वारा अश्वमेध अनुष्ठान निष्पन्नकर हिरण्यगर्भरूपता प्राप्त करता है।

पर्वताः काठिन्यादुच्छ्रितत्वाच्च। ओषधयश्च क्षुद्राः स्थावरा वनस्पतयो महान्तो लोमानि केशाश्च यथासंभवम्। उद्यन्नुदगच्छन्भवति सविताऽऽस-ध्याह्नादश्वस्य पूर्वार्धो नाभेरूर्ध्वमित्यर्थः। निम्लोचन्नस्तं यन्नामध्या-ह्नाज्जघनार्धोऽपरार्धः पूर्वापरत्वसाधर्म्यात्। यद्विजृम्भते गात्राणि विनामयति विक्षिपति तद्विद्योतते विद्योतनं मुखघनविदारणसामान्यात्। यद्विधूनुते गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जनशब्दसामान्यात्। यन्मेहति मूत्रं करो-त्यश्वस्तद्वर्षति वर्षणं तत्सेचनसामान्यात्। वागेव शब्द एवास्याश्वस्य वागिति नात्र कल्पनेत्यर्थः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० १६-१७

लेकिन, भावनारहित होकर, अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करनेसे उसे इन्द्रत्व प्राप्त होता है। इन्द्रने एक सौ अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान पूर्ण किया था, इसलिए, उसका एक नाम शतक्रतु भी है। अश्वमेधाधिकारी राजाकी कामना है—स्वराज्य-समस्त पृथ्वीका आधिपत्य और प्रजापति हैं सर्वलोकस्वरूप। अतः अश्वमें प्राजापत्य-भावनाके द्वारा सर्वलोकाधिपत्य प्राप्त हो जायगा।

अश्वके अवयव-समूहमें कालादि-दृष्टिका विधानकर उसकी उपासना किस प्रकार की जाय यह बताया गया है और अश्वको प्रजापतिरूपसे प्रतिपादन करनेकी इच्छासे बृहदारण्यक उपनिषद्की द्वितीय कण्डिकाका प्रारम्भ किया गया है। अश्वके संज्ञपन-वधके पूर्व और बादमें यथाक्रमसे अश्वकी महिमाका ख्यापक सुवर्ण एवं रजत निर्मित ग्रहोंकी स्थापना होनी चाहिए। ग्रह शब्दका अर्थ यज्ञीय पात्र-विशेष है। घृत आदि हवनीय द्रव्यका आधार ही ग्रह है। सोनेके ग्रहमें अहर्-दिनकी दृष्टि करनेका उपदेश दिया गया है, क्योंकि, दिवाभाग और सुवर्ण इन दोनोंमें दीप्ति प्रसिद्ध है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि अश्व-संज्ञापनके पूर्वमें स्थापित अश्वकी महिमाके ख्यापक-ग्रहमें जब अहर्-दृष्टिकी उपासना करनेका निर्देश हुआ है तब कैसे वह ग्रह अश्वके पश्चात् उत्पन्न हुआ था? क्योंकि श्रुतिमें कहा गया है कि 'अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्व जायत।' इस प्रसंगमें 'अनु' शब्दका अर्थ पश्चात् ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि, अश्व-संज्ञपनके पूर्वमें अश्वके जीवन-कालमें ही सौवर्ण-ग्रह-स्थापन करनेके लिए कहा गया है। इसलिए, अश्वके जीवन-कालके पश्चात् तो वह सौवर्ण-ग्रह स्थापित नहीं किया जा सकता है, इसलिए, बृहदारण्यक श्रुतिमें 'पुरस्तात्' शब्दके अर्थके साथ 'अनुजायत' शब्दके अर्थका सामंजस्य नहीं होता है।

इस दोषको परिहार करनेके लिए भाष्यकारने कहा है कि[1] प्रस्तुत-प्रसंगमें 'अन्वजायत' शब्दमें प्रयुक्त 'अनु' शब्दका अर्थ पश्चात् नहीं है,

१. नायं पश्चादर्थोऽनुशब्दः किंतु लक्षणार्थः।
बृ० उ० भा० टी० पृ० १८

प्रत्युत 'अनु' शब्द यहाँ लक्षणवाची है।[१] आशय यह है कि अश्व प्रजापतिरूप है, इसलिए, उसके प्रजापतिरूपका ख्यापन करानेके लिए यथोक्तरूपसे ग्रहकी उत्पत्ति अश्वके बाद कहा गया है।

इस प्रसंगमें भाष्यकारने कहा है कि प्रजापति आदित्यरूप दिनके द्वारा लक्षित होता है। आशय यह है कि काल, लोक एवं देवतात्मा प्रजापति जब अश्व-रूपसे दृष्यमान होते हैं तब उस स्थितिमें दिनको दृष्टि जिस ग्रहमें की गयी है उस ग्रहके द्वारा अश्व प्रजापति-रूपमें लक्षित होता है। ग्रह उसका लक्षण है। इसलिए, अश्व-संज्ञपनके पूर्वमें महिमा-ख्यापक ग्रह स्थापित करनेके सम्बन्धमें जो कहा गया है कि वह अश्व-संज्ञपनके पश्चात् उत्पन्न हुआ है—इस श्रुतिमें कोई विरोध नहीं है।[२]

जिस स्थानमें सुवर्ण-निर्मित-ग्रह स्थापित होता है वहाँ पूर्व-समुद्रकी दृष्टि देकर ध्यान करना चाहिए। अश्व-संज्ञपनके पूर्व-कालमें यह ग्रह स्थापित होता है, इसलिए, इसमें पूर्व-समुद्रकी दृष्टि करनेके लिए कहा गया है।[३] दोनोंमें पूर्वत्वरूप सह-सादृश्य विद्यमान है।

जिस प्रकार सौवर्ण-ग्रहमें दिनकी दृष्टि करनेको कहा गया है उसी प्रकार रजत-निर्मित-ग्रहमें रात्रिकी दृष्टि करनेका उपदेश दिया गया है। रात्रिमें चन्द्र किरण रहनेके कारण शुक्लता विद्यमान है और रजत-निर्मित-ग्रह भी शुक्ल है। इसलिए, रजत-निर्मित-ग्रहमें रात्रिकी दृष्टि-करनेके लिए कहा जाना उचित है।[४]

---

१. 'अनु' शब्द अश्वके प्रजापतित्वको स्थापित करता है।

२. इस प्रसंगमें भाष्यकारने प्रसिद्ध दृष्टान्तका उल्लेख किया है—'वृक्षमनु विद्योतते विद्युदिति'—जब वृक्षको लक्षित कर वृक्षके अग्रमें विद्युत विद्योतित होता है- तब पूर्वोक्त प्रयोग होता है। वैयाकरणोंकी संज्ञाके अनुसार 'अनु' उपसर्ग नहीं है, परन्तु, वह कर्म प्रवचनीय है।

३. पूर्व समुद्रसे स्वर्णकी उत्पत्ति कही जाती है।

४. यद्यपि शुक्लपक्षकी रात्रि चन्द्रयुक्त होनेके कारण उसमें शुक्लिमा अनुभव होता है तथापि कृष्णपक्ष में तो यह बात नहीं है। खासकर अमावस्याकी रात्रिमें निविड-अन्धकार ही रहता है—उसमें शुक्लिमाका सर्वथा अभाव रहता है। इसलिए भाष्यकारने रजत एवं रात्रिमें शुक्ल-वर्ण-निबन्ध

यह भी कहा जा सकता है कि रजत सुवर्णका परवर्ती एवं अपकर्षयुक्त है और इस प्रकार रात्रि भी दिनका परवर्ती एवं अपकर्षयुक्त है। अतः परवर्ती और अपकर्षयुक्त होनेमें सादृश्य रहनेके कारण भी रजत-निर्मित ग्रहमें रात्रिकी दृष्टि करनेके लिए कहा गया है।[१]

प्रसंगतः निर्दिष्ट अश्वको परिलक्षितकर उसके संज्ञपनके बाद महिमास्थापक रजतग्रह स्थापित करना चाहिए। इस रजतग्रहको जिस स्थानमें स्थापित किया जाता है वहाँ पश्चिम-समुद्रकी दृष्टि करनी चाहिए। ये दोनों ग्रह महत्त्वयुक्त होनेके कारण महिमाख्यापक कहे जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि अश्वके विषयमें दृष्टिका उपदेश देकर ग्रहके विषयमें भी दृष्टिका उपदेश देनेसे एक वाक्यता नहीं रह गयी है।

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि ग्रह अश्वकी ही विभूति-ऐश्वर्य है। सुवर्ण-निर्मित-ग्रह और रजत-निर्मित-ग्रह अश्वके दोनों पार्श्वमें स्थापित किया जाता है।[२] ये दोनों महिमाख्यापक ग्रह मेध्य अश्वको ही परिलक्षित कराकर उसके दोनों पार्श्वोंमें सम्भूत हुए हैं। इसलिए, अश्व सम्बन्धी-ग्रह भी विशेष महिमायुक्त है।[३] अश्वकी स्तुति करनेके

सादृश्य-पक्षका त्यागकर जघन्यत्व-पक्ष ग्रहण किया है। भाष्यकारने कहा भी है—'जघन्यत्वसामान्यात् वा।'वा' शब्दके द्वारा पूर्व कल्पमें भाष्यकारकी अरुचि प्रतीति होती है।

१. आरोप करनेके प्रसंगमें सर्वत्र सादृश्य प्रदर्शनका प्रयास किया गया है। इसका कारण यही है कि आरोप मात्र ही सादृश्यमूलक। दो पदार्थोंमें सादृश्य नहीं रहनेसे एकमें दूसरेका आरोप नहीं किया जा सकता है। रज्जूमें सर्पका, मुखमें चन्द्रिकाका, शुक्तिमें रजतका आरोप होता है। इस प्रकार आरोपमें सर्वत्र सादृश्य-ज्ञान अपेक्षित है। इसलिए, मशकमें हस्तिका आरोप नहीं किया जाता है।

२. अश्वस्य हि विभूतिरेषा यत्सौवर्णा राजतश्च ग्रहावुभयतः स्थाप्येते।
बृ० उ० भा० टी० पृ० १८

३. इस प्रसंगमें बृहदारण्यक श्रुतिमें एक बार पहले कहा गया है 'महिमाऽन्वजायत' और फिर द्वितीय बार 'महिमानावभितः सम्बभूवतुः' कहकर पुनरुक्ति हुई है। इस प्रकार यह मेध्य अश्व इतना महत्त्वयुक्त है कि इसकी स्तुतिके लिए पुनः-पुनः उल्लेख किया गया है।

लिए कहा गया है कि यह अश्व हयरूप होकर देवसमूहको वहन किया था। आशय यह है कि अश्व प्रजापति होनेके कारण देवगणको देवत्व प्राप्त कराया था। अथवा, यह भी कहा जा सकता है कि यह देवसमूहको वहन किया था।

इसमें एक शंका होती है कि वाहन होना तो निन्दा ही है। अश्वकी स्तुतिके प्रसंगमें कल्पान्तर उठाकर अश्वकी निन्दा करना तो सर्वथा अनुचित है।

इसके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि वाहनत्व अश्वके लिए स्वाभाविक गुण होनेके कारण यह निन्दा नहीं है। यह तो अश्वका उत्कर्ष है कि स्वाभाविक गुण वाहनत्वके द्वारा उसे देवादिसे सम्बन्ध होता है। साधारण वस्तुका वाहक कहनेकी अपेक्षा देवादिका वाहन कहनेसे उस अश्वकी स्तुति ही होती है।[१] उसने वाजी होकर गन्धर्व-समूहको, अर्वा होकर असुर-समूहको तथा अश्व होकर मनुष्य-समूहको वहन किया था। यह मेध्य अश्व परत्मा ईश्वरसे उत्पन्न होकर ईश्वरमें ही अवस्थान करता है।[२] इस तरह अश्वमेधिक अश्वको शुद्ध योनि और शुद्ध स्थितिवाला कहकर उसकी स्तुतिकी जाती है।[३]

---

१. इस प्रसंगमें हय, वाजी प्रभृति अश्व-जाति-विशेषका उल्लेख किया गया है।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि समुद्र अश्वका बन्धु है, समुद्र ही अश्वका योनि है। इस संदर्भमें समुद्रका अर्थ है परमात्मा आशय यह है कि अश्व परमात्मामें सम्बद्ध होकर अवस्थान करता है। समुद्र ही इसकी उत्पत्तिमें कारण है। अतः अश्वकी उत्पत्ति एवं स्थिति दोनों ही शुद्ध है। क्योंकि, अश्व समुद्र-परमात्मासे उत्पन्न होता है एवं उसीमें अवस्थान करता है। 'समुद्र' शब्दका रूढ़ अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि, श्रुतिमें कहा गया है कि 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः।' इससे यह प्रतीत होता है कि जल राशि ही अश्वकी उत्पत्तिके प्रति कारण है। 'समुद्र' शब्दका अर्थ परमात्मा क्यों ग्रहण किया जाता है इसका विवरण देते हुए आनन्दगिरिने कहा है कि भूत-समूह जिससे उत्पन्न होते हैं तथा जिसमें गमन करते हैं वही परम गम्भीर ईश्वर समुद्र है। समुद्र-रूप परमात्मा ही अश्वका उत्पादक, स्थापक एवं विलापक है।

३. अहर्वा इति सौवर्णराजतौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वस्याग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते

३. तद्विषयमिदं दर्शनम्। अहः सौवर्णो ग्रहो दीप्तिसामान्याद्वै। अहरश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायतेति कथम्। अश्वस्य प्रजापतित्वात्। प्रजापतिह्यां-दित्यादिलक्षणोऽह्ना लक्षयते। अश्वं लक्षयित्वाऽजायत सौवर्णो महिमा ग्रहो वृक्षमनु विद्योतते विद्युदिति यद्वत्। तस्य ग्रहस्य पूर्वे पूर्यः समुद्रे समुद्रो योनिर्विभक्तिव्यत्ययेन। योनिरित्यासादनस्थानम्। तथा रात्री राजतो ग्रहो वर्णसामान्याज्जघन्यत्वसामान्याद्वा। एनमश्वं पश्चात्पृष्ठतो महिमा-ऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिः। महिमा महत्त्वात्। अश्वस्य हि विभूतिरेष यत्सौवर्णो राजतश्च ग्रहावुभयतः स्थाप्येते। तावेतौ वै महिमानौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वमभितः संबभूवतुरुक्तलक्षणवेव संभूतौ। इत्थमसावश्वो महत्त्वयुक्त इति पुनर्वचनं स्तुत्यर्थम्।

तथा च हयो भूत्वेत्यादि स्तुत्यर्थमेव। हयो हिनोतेर्गतिकर्मणो विशिष्टगतिरित्यर्थः। जातिविशेषो वा। देवानवहद्देवत्वमगमत्प्रजापतित्वा-द्देवानां वा वोढाऽभवत्। ननु निन्द्यमेव वाहनत्वम्। नैष दोषः वाहनत्वं स्वाभाविकमश्वस्य स्वाभाविकत्वादुच्छ्रायप्राप्तिर्देवादिसंबन्धोऽश्वस्येति स्तुति-रेवैषा। तथा वाज्यादयो जातिविशेषाः। वाजी भूत्वा गन्धर्वानवहदित्य-नुषङ्गः। तथाऽर्वा भूत्वाऽसुरान्। अश्वो भूत्वा मनुष्यान्। समुद्र एवेति परमात्मा बन्धुर्बन्धनं बध्यतेऽस्मिन्निति। समुद्रो योनिः कारणमुत्पत्तिं प्रति। एवमसौ शुद्धयोनिः शुद्धस्थितिरिति स्तूयते 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' इति श्रुतेः। प्रसिद्ध एव वा समुद्रो योनिः ॥ २ ॥

बृ० उ० भा० टी० पृ० १८-१९

पञ्चम अध्याय

अग्नि-ब्राह्मण

अश्वमेध-सम्बन्धी अर्क नामक अग्निकी उत्पत्ति

अश्व-विषयक दृष्टि प्रतिपादनकर अश्वमेधमें उपयोगी अग्निकी उत्पत्तिका वर्णन किया गया है। अग्नि-विषयक दृष्टि कहनेकी इच्छासे ही अग्नि-ब्राह्मणका प्रारम्भ बृहदारण्यक उपनिषद्में हुआ है। यद्यपि 'वार्योग्नि:' इत्यादि ग्रन्थमें अग्निकी उत्पत्ति-विषयक बात सिद्ध है तथापि अश्वमेधमें अपेक्षित अर्क नामक अग्निकी उत्पत्ति कही है। अश्वमेधमें उपयोगी अग्निकी उत्पत्ति एवं तद्विषयक दृष्टिका प्रतिपादन उस अग्निकी स्तुतिके लिए समझना चाहिए। आशय यह है कि अग्निका दर्शन विधान करना अभिप्रेत है तथा उसकी सिद्धिके लिए उपास्य अग्निकी उत्पत्ति-कथन अग्निकी स्तुतिमें पर्यवसित होती है। जन्म-शुद्ध होनेसे जैसे राजा उत्कृष्ट और उपास्य होता है वैसे ही अग्नि भी जन्म-शुद्ध होनेके कारण उत्कृष्ट और उपास्य होता है।

सत्कारणवाद-निरूपण

बृहदारण्यक-श्रुतिमें कहा गया है कि पहले यहाँ कुछ भी नहीं था अर्थात् मन-प्रभृतिकी उत्पत्तिके पूर्व इस संसार-मण्डलमें नाम एवं रूपके द्वारा विभक्त कोई भी पदार्थ-विशेष विद्यमान नहीं था। बृहदारण्यक-श्रुति—'नैवेह किंचनाग्र आसीत्'को अवलम्बनकर शून्यवादियोंने अपना सिद्धान्त स्थापित करनेका प्रयास किया है। यद्यपि पूर्वोक्त श्रुति-वाक्य ब्रह्मवादियोंका है, फिर भी, ब्रह्मवादियोंकी इस अभीष्ट-श्रुतिको सुनकर शून्यवादी बौद्धोंने पूर्वापर चिन्तनका त्यागकर दिया तथा पूर्वोक्त श्रुतिके द्वारा ही उन्होंने अपने पक्षका समर्थन करनेका प्रयास किया है। उन्होंने अपने असत्कारणवाद तथा असत्कार्यवाद सिद्धान्तोंकी आधार-शिला इसी श्रुतिको बनाया है।

'क्या पहले शून्य ही था ?' शून्यवादी इस प्रश्नका उपस्थापन कर स्वयं उत्तरमें कहते हैं कि 'हाँ पहले शून्य ही था', क्योंकि, श्रुतिकी उक्ति है—'नैवेह किंचनाग्र आसीत्।' इस श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्पत्तिके पूर्वमें कुछ भी नहीं था। न तो कार्य था न कारण। कार्य उत्पत्तिके पूर्वमें नहीं था इसमें एक हेतु है—कार्य उत्पन्न होता है। आशय यह है कि घटादि कार्य उत्पन्न होता है, इसलिए, घटकी उत्पत्तिके पूर्वमें घटका नास्तित्व ही साबित होता है।[1]

उत्पत्तिके पूर्वमें भी अगर घट विद्यमान होता तब तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, कारण, विद्यमानकी उत्पत्ति तो नहीं हो सकती है। इस प्रसंसमें बौद्धगण इस रूप अनुमान-प्रदर्शन करते हैं :

विवादास्पदीभूतघट-कार्य (पक्ष)
उत्पत्तिके पूर्वमें असत् था (साध्य)
क्योंकि वह उत्पद्यमान है (हेतु)

जो वस्तु अपनी उत्पत्तिके पूर्वमें असत् नहीं है वह उत्पद्यमान भी नहीं हो सकता, जैसे—वेदान्तियोंका अभिप्रेत ब्रह्म ("उदाहरण)।

प्रदर्शित अनुमानमें उत्पत्तिके पूर्वमें घटादि-कार्यकी असत्यता प्रतिपादन करनेके लिए उत्पद्यमानत्वको हेतु किया गया है। यह उत्पद्यमानत्व हेतु प्रदर्शित-पक्षमें अगर नहीं रहेगा तब तो स्वरूपासिद्धि नामक हेत्वाभास हो जायगा और इससे उत्पद्यमानत्व हेतु दुष्ट हो जायगा जिसके फलस्वरूप वह साध्य विषयिणी अनुमिति उत्पादन करनेमें समर्थ नहीं होगा। परन्तु, इस प्रकार हेतुकी असिद्धि-स्वरूपा-सिद्धिकी कोई शंका नहीं। प्रदर्शित उत्पद्यमानत्व-हेतु पक्षमें विद्यमान है। इसे प्रतिपादन करनेके लिए बौद्ध दार्शनिकोंका कथन है कि घटादि—कार्यमात्र उत्पन्न होता है। इसलिए उसमें घटादि-कार्यमात्रमें—उत्पद्यमानत्वरूप-हेतु विद्यमान रहनेके कारण हेत्वसिद्धिकी कोई सम्भावना

१. किं शून्यमेव बभूव, शून्यमेव स्यात् 'नैवेह किञ्चन' इति श्रुतेः। न कार्यं कारणं वाऽऽसीदुत्पत्तेश्च। उत्पद्यते हि घटः। अतः प्रागुत्पत्तेर्घटस्य नास्तित्वम्।

वृ० उ० भा० टी० पृ० २०

नहीं है। इससे यहीं निष्कर्ष हुआ कि घटादि-कार्य अपनी उत्पत्तिके पूर्वमें अविद्यमान है।[१]

इस स्थितिमें तार्किकगण बौद्धोंके विरोधमें कहते हैं कि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका अभाव बोधगम्य है, लेकिन, कारणका अभाव तो युक्ति-विरुद्ध है। क्योंकि घटादि कार्योंकी उत्पत्ति होती है। अगर उत्पत्तिके पूर्वमें ही घटादि कार्य विद्यमान रहता तब तो उत्पन्नकी भी उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ती, इसलिए, असत्कार्यवाद स्वीकार किया जाता है। परन्तु, 'कारण पूर्वमें नहीं था' यह तो स्वीकार नहीं किया जा सकता है—असत्कारणवाद स्वीकार करना सर्वथा अयुक्तिक है। क्योंकि घटादि-कार्यका मृत्पिण्डादि कारण तो प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है। तार्किकोंकी यह युक्ति इस प्रकार है—

कारण (पक्ष)
विद्यमान नहीं था—(साध्य)।

इसमें जो कारण भाग हैं उसमें बाधनामक हेत्वाभास होता है; क्योंकि, निर्दिष्ट-साध्य—'विद्यमान नहीं था', निर्दिष्ट-पक्षके भाग कारणमें विद्यमान नहीं है। परन्तु, वह साध्य पक्षके भाग कार्यमें विद्यमान है, इसलिए, उसमें अनुमिति हो सकती है। प्रदर्शित स्थलमें कार्य एवं कारण मिलित-रूपसे पक्ष हैं—यह पहले ही कहा गया है।

प्रश्न हो सकता है कि (मन-प्रभृतिकी) उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यकी भी असत्ता युक्तिके द्वारा कैसे स्थापित की जा सकती है ?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि जो उपलब्ध नहीं होता है उसकी ही नास्तितता स्वीकार की जा सकती है।[२] इससे शून्यवादी बौद्ध द्वारा प्रदर्शित अनुमानके कार्यरूप-पक्षमें अविद्यमानतारूप-साध्य पहलेसे ही

१. कार्यस्य प्रागसत्वे हेत्वन्तरमाह—उत्पत्तेश्चेति। विमतं प्रागसदुत्पद्यमान-त्वद्यन्नैवं न तदेवं यथा परेष्टं ब्रह्मेत्यर्थः। हेत्वासिद्धि शङ्कित्वोत्तरमाह-उत्पद्यते हीति। घटग्रहणं कार्यमात्रस्योपलक्षणार्थम्।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २१

२. यन्नोपलभ्यते तस्यैव नास्तिता

बृ० उ० भा० टी० पृ० २१

सिद्ध रहनेके कारण सिद्ध-साध्यतारूप-दोष हो जायगा। परन्तु, इसे रूप नहीं कहा जा सकता है कि (मन-प्रभृत्तिकी) उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यके समान कारणकी भी अविद्यमानता क्यों नहीं होगी ? क्योंकि, कारण उपलभ्यमान होता है। इसलिए अनुपलब्धिरूप-हेतु कारणरूप-पक्षमें विद्यमान नहीं रहनेसे उस कारणकी असत्ता (मन प्रभृतिकी) उत्पत्तिके पूर्वमें साबित नहीं कर सकता है।[१]

इसके उत्तरमें शून्यवादी कहते हैं कि तार्किकोंका इस प्रकार कहना अनुचित है, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्वमें सभी पदार्थोंकी अनुपलब्धि ही रहती है। 'अनुपलब्धि' अभाव-ज्ञानका हेतु है: जगत्‌की उत्पत्तिके पूर्वमें कारण एवं कार्य कोई भी उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए उत्पत्तिके पूर्वमें सभीका—कार्य एवं कारणका—अभाव स्वीकार करना ही उचित है। शून्यवादी बौद्ध आचार्यगण अपनी इस युक्तिको अनुमानके आकारमें प्रदर्शन करते हैं—

कार्य एवं कारण (पक्ष),
उत्पत्तिके पूर्वमें असत् है (साध्य),
वे उपलब्धि योग्य होनेपर भी उस स्थितिमें उपलब्ध नहीं होते हैं (हेतु)
जैसे वादी एवं प्रतिवादी दोनोंके द्वारा स्वीकृत घटादि[२]
दृष्टान्तमें यह देखनेमें आता है (दृष्टान्त)।

शून्यवादी[३] बौद्धोंके द्वारा प्रदर्शित अनुमानमें हेतु—'प्रत्यक्ष योग्य होकर भी उपलब्ध नहीं होना', 'पक्ष'—कार्य एवं कारणमें विद्यमान

१. यदुक्तं न कार्यं कारणे वाऽऽसीदिति तत्र भागे बाधो भागे चानुमति-रित्यर्थः। कार्यस्यापि कथं प्रागसत्वोत्पत्तिरित्याशङ्कयाऽऽह्रयन्तेति। एतानुमानस्य सिद्धसाध्यतोक्ता। बृ० उ० भा० टी० पृ० २१

२. प्रत्यक्ष होकर भी अगर घटादि उपलब्ध नहीं हो तब उसका अभाव अनुमान करना चाहिए। अनुपलब्धिको हेतु बनाकर अभावज्ञानका अनुमान किया जाता है यही बौद्ध दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। वे लोग अनुपलब्धि-लिंगक अभावकी अनुमिति स्वीकार करते हैं।

३. नागार्जुनकी शून्यवादी चिन्ताका मूल स्रोत बृहदारण्यक-श्रुति 'नैवेह किंचनाग्र आसीत्' ही है।

नहीं है' इस प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिए। कारण, उस स्थितिमें कार्य एवं कारणकी अनुपलब्धि तो श्रुति ही कहती है। श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित अनुपलब्धिके साथ अगर उपलब्धिका विरोध हो जाय तब तो उपलब्धिको अभास-अयथार्थ उपलब्धि मानना होगा। कारण, श्रुतिके प्रामाण्यमें कोई शंका नहीं हो सकती।

इस विषयको स्पष्ट करते हुए असत्कारणवादी बौद्ध कहते हैं कि अनुपलब्धि[1] को ही अभाव-सिद्ध करनेमें अगर हेतु स्वीकार किया जाय तब तो सभी जगत्की उत्पत्तिके पूर्वमें न तो कारण उपलब्ध होता है और न कार्य हीं उपलब्ध होता है। फलतः उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यके समान कारण भी विद्यमान नहीं है—यही सिद्ध होता है। अतः सभी जगत्का कारण एवं कार्यका अभाव ही स्वीकार करना उचित है और इसलिए, शून्यवादियोंका सिद्धान्त सबको मान्य होना चाहिए।[2]

इसको निरसन करनेके लिए भाष्यकारने कहा है कि शून्यवादियोंका पूर्वोक्त कथन उचित नहीं हैं; कारण, बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि—'मृत्युनैवेदमावृत्तमासीत्' यह मृत्युसे ही आवृत्त था।[3] इस श्रुतिवाक्यके पूर्वखण्डमें कथित 'नैवेह किंचन'के द्वारा नाम एवं रूपकी अव्यक्तावस्थाको ही प्रतिपादित किया गया है। 'नैवेह—' इत्यादि श्रुतिके द्वारा उपनिषत्के पूर्वमें कार्य एवं कारणकी असत्ता प्रतिपादन नहीं किया गया है।

पूर्वोक्त श्रुतिका आशय स्पष्ट करते हुए भाष्यकारने कहा है कि यदि उत्पत्तिके पूर्वमें कुछ भी नहीं होता तो जिससे आवृत्त था और जो आवृत्त था उसके विषयमें श्रुति यह नहीं कहती है कि 'यह मृत्युसे ही

१. अनुपलब्धि अभावका हेतु नहीं है, परन्तु अभावके ज्ञानका हेतु है।
२. कार्यवत्कारणस्यापि प्रागसत्त्वं किं न स्यादित्याशङ्क्योक्तहेत्वभावन्मैवमित्याह-नत्विति। शून्यवाद्याह-न प्रागुत्पत्तेरिति। विमतं प्रागसद्योग्यत्वे सति तदाऽनुलब्धत्वात्संमतवत्। चासिद्धो हेतुः श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्। तद्विरोधे सत्युपलब्धेराभासत्वादित्यर्थः। तदेव प्रपञ्चयति-अनुपलब्धिश्चेदिति।
बृ० उ० भा० टी० पृ० २१
३. बृ० उ० १।२।१

आवृत्त था।[१] ऐसा तो कभी नहीं हो सकता कि वन्ध्या-पुत्र आकाश-कुसुमसे आच्छादित हो जाता है। बृहदारण्यक-श्रुतिकी स्पष्ट उक्ति है कि मृत्युके द्वारा ही यह आवृत्त था। अतः जिसके द्वारा आवृत्त था— वह कारण एवं जो आवृत्त था—वह कार्य उत्पत्तिसे पूर्व वे दोनों ही विद्यमान थे। यही श्रुतिके प्रमाणसे सिद्ध होता है। इसके द्वारा असत्कारणवादी बौद्धोंने जिस अनुमानका प्रदर्शन किया है वह स्पष्ट रूपसे प्रदर्शित बृहदारण्यक-श्रुतिका विरोधी है। लेकिन, आगम-विरोधी अनुमान सद् अनुमान न होकर उसका आभासमात्र है।

असत्कारणवादी बौद्धोंके द्वारा प्रदर्शित अनुमान प्रदर्शित श्रुति-मात्रके विरुद्ध नहीं है प्रत्युत उसके साथ सद् अनुमानका भी विरोध विद्यमान है। उत्पत्तिके पूर्वमें कार्य एवं कारणकी विद्यमानता अनुमेय है। इसलिए, असत्कारणवादी इन दोनोंका असत् अनुमान नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, उत्पत्तिके पूर्वमें कार्य एवं कारणको सत्ता-विषयक-प्रयुक्त अनुमानका उपजीव्य है असत्ता-विषयक अनुमान। प्रथम अनुमान, सत्ता विषयक अनुमान, उपजीव्य होनेके कारण वह द्वितीय, असत्ता-विषयक, अनुमानसे बलवान् है। क्योंकि, उपजीव्य उपजीवकसे बलवान् होता है। पहले सत्तानुमानकी प्रवृत्ति होकर बादमें सत्तानुमानको उप-जीवनकर असत्कारणवादी अभिमत असत्तानुमान प्रवृत्त हो सकता है और इससे उपजीव्य-विरोध स्पष्ट है।

भाष्यकारने स्पष्ट निर्देश किया है कि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्य एवं कारणके अस्तित्वका अनुमान किया जाता है। कार्य-कारण विषयक सत्तानुमानकी प्रतिज्ञाकर भाष्यकारने उत्पत्तिके पूर्वमें पहले कारणकी सत्ताका अनुमान प्रदर्शन किया है। उन्होंने कहा है कि भावरूप होकर उत्पद्यमान कार्यका कारण विद्यमान रहनेसे ही उत्पत्ति देखनेमें आती है तथा कारण विद्यमान नहीं रहनेसे भावरूप होकर उत्पद्यमान कार्यकी उत्पत्ति देखनेमें नहीं आती है। प्रदर्शित अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा यही

१. जिसके द्वारा आवृत्त होता है वह कार्य है—वह आवरक-कारण है और जो आवृत्त होता है वह कार्य है। इसमें यही प्रतिपादन किया गया है कि कारण एवं कार्य दोनों विद्यमान था। घटोत्पत्तिके पूर्वमें घट मृत्तिकाके द्वारा आवृत्त रहता है—यस रूप अनुभव होता है।

सिद्ध होता है कि जगत्‌की उत्पत्तिके पूर्वमें भी उसके कारणके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है वैसे ही भाष्यकारके द्वारा प्रदर्शित अनुमानका आकार इस रूप है—

विमतं— उत्पत्तिके पूर्वमें जगत् विद्यमान था या नहीं ?
इस रूपसे विवादका विषय (पक्ष)

सत्त्वपूर्वक है—उत्पत्तिके पूर्वमें उसका कारण
विद्यमान है—(साध्य)
क्योंकि, वह कार्य है—(हेतु)
यथा घट—(दृष्टान्त)।[1]

इसमें असत्कारणवादी बौद्ध शंका करते हैं कि भाष्यकार द्वारा प्रदर्शित अनुमानमें दृष्टान्त साध्य विकल है। क्योंकि इस घटरूप-दृष्टान्तमें साध्य-उत्पत्तिके पूर्वमें कारणका अस्तित्व-विद्यमान नहीं है। दृष्टान्तमें ही हेतु एवं साध्यकी व्याप्ति गृहीत होती है, दृष्टान्तमें साध्य विद्यमान नहीं रहनेसे दृष्टान्त साध्य-विकल हो जाता है। दृष्टान्त साध्य-विकल हो जानेसे हेतु एवं साध्यकी व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती है तथा इससे हेतु एवं साध्यकी व्याप्तिको उपजीव्यकर अनुमानका भी उत्थान सम्भव नहीं हो सकता है।

प्रदर्शित अनुमानमें दृष्टान्त किस रूपसे साध्य-विकल है इसे स्पष्ट करते हुए बौद्ध आचार्योंने कहा है कि घटादिके कारण-रूपमें जिसे अद्वैतवेदान्ती ग्रहण करना चाहते हैं वह वस्तुतः अविद्यमान है। क्योंकि मृतपिण्डादि घटादिका कारण है और मृत्पिण्डादिको उपमर्दन[2] किये विना घटादिकी उत्पत्ति नहीं होती। घटादि-कार्य जब अपने कारण मृत्पिण्डको उपमर्दन करेगा तब उस स्थितिमें घटादि-कार्यका कारण

१. कार्यकारणयोः सत्त्वस्यानुमेयतया तदसत्त्वमनुमातुमशक्यम्। उपजीव्यविषयतया सत्त्वमनुमानस्य बलीयस्त्वादित्यर्थः। कार्यकारणयोः सत्त्वानुमानं प्रतिज्ञाय प्रथमं कारणसत्त्वमनुमिनोति-अनुमीयते चेत्यादिना। कारणस्य सत्त्वेऽनुमानमाह-कार्यस्य होति। विमतं सत्पूर्वं कार्यत्वात्कुम्भवदित्यर्थः।
बृ० उ० भा० टी० पृ० २२

२. इस प्रसंगमें द्रष्टव्य अक्षपाद सूत्र—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्।'

मृत्पिण्डादि विद्यमान नहीं रह सकता है। कारणको उपमर्दन किये विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए, घटादिको दृष्टान्त बनाकर उत्पत्तिके पूर्वमें, जगत्के कारण-विषयक प्रदर्शित युक्तिके द्वारा इस अनुमानका दृष्टान्त साध्य-विकल है।[1] दृष्टान्त-घटकी उत्पत्तिके समय उसका कारण विद्यमान नहीं है—असत्य है।[2]

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि मृत्तिका तथा सुवर्णादि घट एवं रुचिकादिके क्रमशः कारण हैं। असत्कारणवादियोंका कथन है कि 'मृत्पिण्डाकार-विशेष अथवा सुवर्ण-पिण्डाकार-विशेष घट एवं रुचिकादि अलंकारके यथाक्रममें कारण हैं'—सर्वथा अनुचित है। पिण्डावस्था, घट अथवा रुचका कारण नहीं है। भाष्यकारके अनुसार सर्वथा अवस्था-रति मृत्ति-सामान्य अथवा सुवर्ण-सामान्य, घट एवं रुचकादिका यथाक्रममें कारण है। लेकिन, पिण्डावस्था तो घट एवं रुचकको उत्पत्तिका विरोधी है। पिण्डाकार-विशेष विद्यमान नहीं रहनेपर भी मृत्तिका एवं सुवर्णादि कारण द्रव्य-मात्रसे घट एवं रुचिकादि रूप कार्यकी उत्पत्ति दृष्ट होती है। और इससे यह सिद्ध होता है कि पिण्डाकार-विशेष घट अथवा रुचकादिका कारण नहीं है।

---

१. नानुपमृद्य प्रादुर्भावादिति न्यायेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं चोदयति-घटादिति। न तावदसिद्धो घटः स्वकारणमुपमृद्नात्यसतोऽकारकत्वात्सिद्धस्य तूपमर्दकत्वेनात्पूर्वकत्वमिति कुतः साध्यविकलतेत्याह-नेति।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २२

२. अनुपलब्धिश्चेदभावहेतुः सर्वस्य जगतः प्रागुत्पत्तेर्न कारणं कार्यं वोपलभ्यते। तस्मात्सर्वस्यैवाभावोऽस्तु। न 'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' इति श्रुतेः। यदि हि किंचिदपि नाऽऽसीद्येनाऽऽव्रियते यच्चाऽऽव्रियते तदा नावक्ष्यन्मृत्युनैवेदमावृतमिति। न हि भवति गगनकुसुमच्छन्नो वन्ध्यपुत्र इति। ब्रवीति च मृत्युनैवेदमावृतमासीदिति। तस्माद्येनाऽऽवृतं कार्यं प्रागुत्पत्तेस्तदुभयमासीच्छ्रुतेः प्रामाण्यादनुमेयत्वाच्च। अनुमीयते च प्रागुत्पत्तेः कार्यकारणयोरस्तित्वम्। कार्यस्य हि सतो जायमानस्य कारणे सत्युत्पत्तिदर्शनात्। असति चादर्शनात्। जगतोऽपि प्रागुत्पत्तेः कारणास्तित्वमनुमीयते घटादिकारणास्तित्ववत्॥

बृ० उ० भा० टी० पृ० २१

कार्य कारणका व्यभिचारी नहीं हो सकता है। कार्य विद्यमान है और कारण-रूपमें अभिमत-वस्तु विद्यमान नहीं है तो इस स्थितिमें व्यतिरेक-व्यभिचार हो जाता है। व्यतिरेक-व्यभिचार[1] कार्य-कारण-भाव-सम्बन्धका विघटन करा देता है। अगर पिण्डाकार-विशेष घट अथवा रुचकका कारण होता तब तो पिण्डाकार-विशेषके अविद्यमान रहनेपर कभी भी घट एवं रुचकादि कार्य उत्पन्न नहीं होता। और पिण्डाकार-विशेषके अविद्यमान रहनेपर भी घट एवं रुचकादि कार्यकी उत्पत्ति मृत्सुवर्णादिसे होती है। इसलिए, व्यतिरेक-व्यभिचार रहनेके कारण पिण्डाकार-विशेषको घट एवं रुचकादिका कारण नहीं कहा जा सकता है।[2] प्रश्न होता है कि अगर मृत्तिका-प्रभृतिको ही घटादिका

१. अन्वय एवं व्यतिरेकके द्वारा कारणका अवधारण होता है, परन्तु, असत्-कारणवादी बौद्ध जो पिण्डको कारण कहते हैं वे कभी प्रदर्शन नहीं कर सकते हैं कि पिण्डका अभाव होनेसे घट नहीं होता है, क्योंकि पिण्डका अभाव होनेपर भी मृत्तिका-खण्डसे घटादिकी उत्पत्ति होती है।

२. घट-रूप-दृष्टान्तमें असत्कारणवादियों द्वारा प्रदर्शित साध्य-वैकल्य सर्वथा असमीचीन है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि असिद्ध-अपरिनिष्पन्न-घट, अपने कारण पिण्डको उपमर्दन नहीं कर सकता है क्योंकि जो असिद्ध है—वह तो असत् है—अविद्यमान है। असत् किसी भी क्रियाका जनक नहीं हो सकता है। इसलिए असिद्ध घट अपने कारण पिण्डको उपमर्दन नहीं कर सकता है। उपमर्दन-क्रियाका कारकत्व-जनक-असिद्ध घटमें नहीं रह सकता है। इसलिए बाध्य होकर सिद्ध परिनिष्पन्न-घटको ही पिण्डावस्थाका उपमर्दक कहना चाहिए। उसे उपमर्दन क्रियाका निष्पादक कहना चाहिए। कार्य उत्पत्तिके पूर्वमें सत्विद्यमान-रहता है। कार्य मात्र ही सत् पूर्वक है। अतः पूर्वपक्षी द्वारा प्रदर्शित साध्य-वैकल्य-दोष सर्वथा असमीचीन हैं।

और बात यह है कि अनुगत द्रव्य ही सर्वत्र कारण होता है, किन्तु पिण्डाकार-विशेषका अन्वय निबन्धन उस घट अथवा रुचकादिका कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि तत्-तत् घटका एवं तत्तत् रुचका तत्-तत् मृत्पिण्डाकार एवं तत्तत् सुवर्णपिण्डाकार भिन्न है। इसलिए, पिण्डावस्थामें अनुगत-रूप परिलक्षित नहीं होनेके कारण पिण्डावस्थाको कारण स्वीकार करना अनुचित है।

फिर, जहाँ एक घटका पिण्डाकार विद्यमान है वह पिण्डाकार घटान्तरके लिए विद्यमान नहीं है। इसलिए, पिण्डाकार-विशेषको सर्वत्र घटादिका कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

कारण, स्वीकार किया जाय तब मृत्तिकाकी पिण्डावस्था विद्यमान रहनेसे ही क्यों उससे घटरूपकार्यकी उत्पत्ति होती है ?

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि सभी कारण कार्यकी उत्पत्ति करते समय अपने पूर्वोत्पन्न कार्यका तिरोधानकर कार्यान्तरको उत्पन्न करते हैं। आशय यह है कि मृत-सामान्य घटरूप-कार्यकी पूर्ववर्ती पिण्डाकार-विशेषरूप-कार्यका तिरोधानकरके ही अपने घटरूप-कार्यको उत्पन्न करता है। पिण्डाकार-विशेष एवं घट दोनों ही मृत-सामान्यके कार्य हैं। मृत-सामान्यसे जब घट उत्पन्न होनेके लिए जा रहा है, तब उस स्थितिमें मृत्-सामान्य अपने पूर्ववर्त्ती कार्य पिण्डाकार-विशेषको तिरोहितकर ही घटरूप कार्यका उत्पादन करता है। जब तक मृत्-सामान्यका पूर्ववर्त्ती कार्य-पिण्डाकार-विशेष विद्यमान रहता है तब तक परवर्त्ती घट-रूप-कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। यद्यपि ब्रह्म भी कारण है तथापि उसमें अविद्याके बलसे पूर्व कार्यका तिरोधानपूर्वक कार्यान्तर की उत्पत्ति होती है। इसलिए, मृत्तिका रूप-कारणके साथ ब्रह्मरूप-कारणका वैलक्षण्य स्पष्ट है। पूर्वोक्त नियम इसलिए स्वीकार किया गया है कि एक ही उपादानमें अभिव्यक्त होकर दो उपादेय युगपद् अवस्थान नहीं कर सकते हैं। परन्तु, अनभिव्यक्तावस्थामें असंख्य-कार्य एक ही उपादानमें अवस्थान कर सकता है। इसलिए, भाष्यकारने कहा है कि सभी कारण मृत्तिकाकी भाँति अपने पूर्वोत्पन्न-कार्य मृत्पिण्डकी तिरोहित कर ही घटरूप-कार्यको उत्पन्न करता है।

इसमें प्रश्न होता है कि अन्वयि[1] द्रव्य अपने पूर्वोत्पन्न कार्यको तिरोहितकर कार्यान्तरको अगर उत्पादन करता है तब अन्वयि-द्रव्यरूप

फिर, एक घटकी उत्पत्तिके बाद वह पिण्डाकर विशेष विनष्ट हो जाता है। इसलिए, वह पिण्डाकार-विशेष घटान्तरकी उत्पत्तिके समयमें विद्यमान नहीं है। फलतः पिण्डाकार विशेषको किसी भी स्थितिमें घट अथवा रुचक रूप कार्यका कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता, है और इससे भी असत्कारणवादी पिण्डाकार-विशेषको घटादिका कारण तथा कार्यमें असत्पूर्वकत्व स्वीकारकर सिद्धान्तियों द्वारा प्रदर्शित अनुमानके दृष्टान्तमें प्रदर्शित साध्य-वैकल्य सर्वथा असमीचीन है।

१. घटमें मृत्तिका एवं रुचकसे सुवर्ण अन्वयि-अनुगत-द्रव्य है। घट एवं रुचक

उपादानके साथ उपादेय कार्यका तादात्म्य रहनेके कारण उस उपादानका भी विनाश हो जायेगा। और इससे वह अन्वयि-द्रव्य उत्तरवर्त्ती कार्योत्पत्तिका हेतु नहीं बन सकेगा। आशय यह है कि मृत्तिकारूप अन्वयि-द्रव्य मृत्पिंडके साथ अभिन्न होनेके कारण मृत्पिण्डके विनाश होनेके साथ-साथ मृत्तिकाका भी विनाश हो जायगा। फलतः मृत्तिका परवर्त्ती-कार्य घटका उपादान कारण नहीं बन सकेगा।

इसके समाधानमें भाष्यकारने कहा है कि कारणके पूर्व कार्यका उपमर्दन होनेसे स्वयं कारणके स्वरूपका उपमर्दन नहीं होता है। मृत्तिका पूर्वोत्पन्न कार्य मृत्पिण्डका उपमर्दन किया है, इसलिए वह स्वयं उपमर्दित हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि कार्यान्तरमें मृत्तिकादि कारणद्रव्योंकी अनुवृत्ति देखी जाती है। कार्यान्तरके स्वरूपमें वह मृत्तिका विद्यमान रहती है। निष्कर्ष यह है कि पूर्ववर्त्ती पिण्डरूप-कार्यका उपमर्दन होनेपर भी घटरूप-कार्यान्तरमें मृत्तिकाकी अनुवृत्ति प्रत्यक्षतः उपलब्ध होती है और इससे घटरूपमें मृत्तिका अवस्थान करती है यही सिद्ध होता है। अन्वयि-द्रव्य ही कारण है और इससे यह सिद्ध होता है कि पिण्डादिको उपमर्दनकर जब कार्यकी उत्पत्ति परिदृष्ट होती है तब असत्कारणवादी बौद्धोंका कथन है कि 'कार्य उत्पत्तिके पूर्वमें कारण असत् है, उचित नहीं है।

असत्कारणवादी बौद्ध यहाँ एक शंका करते हैं। उनका कहना है कि अगर मृत्तिका मृत्पिण्डका उपमर्दनकर घट उत्पन्न करती है तब तो पिण्डके उपमर्दनके बाद और भी एक कार्यावस्थाके साथ युक्त होकर मृत्तिकाको अवस्थान करना पड़ेगा। क्योंकि विशेषके द्वारा अनालिंगित होकर सामान्य विद्यमान नहीं रह सकता है। ऐसी स्थितिमें यह अवस्था ही घटादि कार्यकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हो जायेगी, जैसे मृत्पिण्डावस्था घटादि-कार्यकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक था। कोई एक विशेष भावाक्रान्त होकर ही सामान्य अवस्थानकर सकता है। इस संसार-मण्डलमें विशेष-

---

कभी भी अपने उपादान अन्वयि-द्रव्यको छोड़कर विद्यमान नहीं रह सकता है। मृत-सामान्य एवं सुवर्ण-सामान्यसे घट एवं रुचकादि कार्य उत्पन्न होता है। मृद्-सामान्य एवं सुवर्ण-सामान्यके विना घट एवं रुचकादि अवस्था सम्भव नहीं है।

भावके द्वारा अनाक्रान्त सामान्यकी सत्ता विद्यमान नहीं है। इसलिए सिद्धान्तीका कथन है कि अन्वयि-द्रव्य ही कारण है–'अनुचित है। क्योंकि अन्वयि-द्रव्य मृदादिका कार्य-विशेषके द्वारा अनालिंगित होकर अस्तित्व कहीं देखनेमें नहीं आता है। इस स्थितिमें जो अनिष्टापत्ति होती है उसका उल्लेख पूर्व ही हो चुका है। अतः अन्वयि मृत्-सामान्यमें प्रमाण नहीं रहनेके कारण अन्वयि मृत्-सामान्यका घटादिके कारण-रूपमें स्वीकार करना अनुचित है।[१]

असत्कारणवादी बौद्धोंने इस विषयको और भी स्पष्ट किया है। उन लोगोंका कथन इस प्रकार है—पिण्डादि पूर्व कार्यका उपमर्दन होनेसे मृदादिकारणका उपमर्दन नहीं होता है, क्योंकि घटादि-कार्यान्तरमें वह मृदादि अनुवृत्त रहता है सिद्धान्तीका ऐसा कहना अयुक्त है। कारण पिण्ड एवं घटादिको छोड़कर अन्वयि-द्रव्य मृदादि-कारणका कहीं भी उपलम्भ नहीं होता है।[२]

१. किं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणमवधेयम्। न च पिण्डाभावे घटो न भवतीति व्यतिरेकोऽस्ति। पिण्डाभावेऽपि शकलादिभ्योऽपि घटाद्युद्भवोपलम्भादित्याह—तदभाव इति। तदेव स्फुटयतिअसत्यपीति। त्वन्मतेऽपि व्यतिरेकराहित्यं तुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह भसतीति। मृदाद्येव घटादिकरणं चेत्पिकमिति पिण्डादौ सत्येव ततो घटाद्यनुत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह सर्वमिति। ब्रह्मणि त्वविद्यावशादुपपत्तिरिति भावः। अन्वयिद्रव्यं पूर्वोत्पन्नस्वकार्यतिरोधानेन कार्यान्तरं जनयति चेत्कार्यतादात्म्येन स्वयमपि नश्येत्तत्रोत्तरकार्योत्पत्तिहेत्वभावादित्याशङ्क्याऽऽह-न चेति। कार्यान्तरेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्कार्यान्तरात्मना भावाच्चेत्यर्थः अन्वयिद्रव्यस्यैव कारणत्वे फलितमाह-तस्मादिति। बृ० उ० भा० टी० पृ० २२-२३

२. घटादिकारणस्याप्यसत्त्वमेवानुपमृद्य मृत्पिण्डादिकं घटाद्यनुत्पत्तेरिति चेन्न। मृदादेः कारणत्वात्। मृत्सुवर्णादि हि तत्र कारणं घटरुचकादेर्न पिण्डाकारविशेषः। तदभावे भावात्। असत्यपि पिण्डाकारविशेषे मृत्सुवर्णादिकारणद्रव्यमात्रादेव घटरुचकादिकार्योत्पत्तिर्दृश्यते। तस्मान्न पिण्डाकारविशेषो घटरुचकादिकारणम्। असति तु मृत्सुवर्णादिद्रव्ये घटरुचकादिर्न जायत इति मृत्सुवर्णादिद्रव्यमेव कारणं न तु पिण्डाकारविशेषः। सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत्पूर्वोत्पन्नस्याऽऽत्मकार्यस्य तिरोधानं कुर्वत्कार्यान्तरमुत्पादयति।

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है [1]कि यह प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्ध है कि मृत्तिकादि कारण-समूह घटादिकी उत्पत्ति होनेके बाद और पिण्डादि की निवृत्तिके बाद अनुवृत्त होता है। मृत्-घट एवं सुवर्ण-कुण्डल इत्यादि स्थलमें उपादान-मृत्तिकाके साथ उपादेय-घटका एवं उपादान सुवर्णके साथ उपादेय-कुण्डलका अभेद-ज्ञानके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि पिण्डादिसे अतिरिक्त रूपमें अगर मृदादि विद्यमान नहीं रहता तब तो पूर्वोक्त तादात्म्य-ज्ञान नहीं हो पाती। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मृदादि उपादान अपने उपादेय-कार्यमें अनुगत रहता है। और भी बात यह है कि पूर्व दिनमें पिण्डरूपमें जो मृत्तिका विद्यमान थी वही मृत्तिका घट हुई है इस रूप प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षके द्वारा मृत्तिका अन्वयि-रूपमें सिद्ध होती है, अतः इसके कारणत्वको किसी भी स्थितिमें अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। असत्कारणवादी बौद्धगण इसका उत्तर इस रूपमें अनुमानके द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

१. जो-जो सत् हैं वे क्षणिक हैं, जैसे प्रदीपशिखा।
२. ये पदार्थ समूह भी असत् हैं।

इस अनुमानके द्वारा सभी पदार्थोंका क्षणिकत्व सिद्ध होता है। और सभी पदार्थोंका क्षणिकत्व सिद्ध होनेके कारण सिद्धान्ती जो मृतिका अथवा सुवर्णको अन्वयि-द्रव्य होनेके कारणरूपमें स्वीकार करते हैं यह सर्वथा भ्रान्ति है। क्योंकि मृतिका एवं सुवर्णमें सिद्धान्तीको अन्वयका प्रत्यभिज्ञा-सादृश्य-निबन्धन होता है, अतः वह भ्रम है। पूर्वोक्त अनुमानके द्वारा पदार्थ-मात्रका ही क्षणिकत्व सिद्ध होनेके कारण अनुवृत्ति अन्वयि-द्रव्यरूपमें संसारमें कोई भी पदार्थ विद्यमान नहीं हो सकता है। इसलिए पूर्वोक्त अन्वयि-द्रव्यको कारण-रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ मृत्, सुवर्णादिमें अन्वयकी प्रत्यभिज्ञा होती है वहाँ वह सादृश्य-निबन्धन भ्रान्ति है। आशय यह है कि पूर्व मृत्तिका अथवा

[1] एकस्मिन्कारणे युगनेपककार्यविरोधात्। न च पूर्वकार्योपमर्दे कारणस्य स्वात्मोपमर्दो भवति। तस्मात्पिण्डाद्युपमर्दे कार्योत्पत्तिदर्शनमहेतुः प्रागुत्पत्तेः कारणासत्त्वे। पिण्डादिव्यतिरेकेण मृदादेरसत्त्वादयुक्तमिति चेत्। पिण्डादि-पूर्वकार्योपमर्दे मृदादिकारणं नोपमृद्यते घटादिकार्यान्तरेऽप्यनुवर्तत इत्येतद-युक्तम्। बृ० उ० भा० टी० पृ० २२-२३

सुवर्ण क्षणिक होनेके कारण प्रथम क्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीय क्षणमें विनष्ट हो जाता है, परन्तु पूर्व मृत्तिका अथवा सुवर्णके सदृश एक मृत्तिका अथवा सुवर्ण उत्पन्न होता है। यह उत्पाद-विनाशकी धारा अक्षुण्ण-रूपमें चलते रहनेके कारण भ्रम होता है कि पूर्व मृत्तिका अथवा सुवर्ण अनुवृत्त हो रहा है।[१]

इसके समाधानमें भाष्यकारने कहा है कि पिण्डादिमें विद्यमान मृदादि-अवयव-समूह ही घटादिमें प्रत्यक्ष होता है। इसलिए, पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकते हैं कि पिण्डगत-मृत्तिकाके साथ घटगत-मृत्तिकाके

१. बौद्ध दार्शनिकगण सभी पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं। सभी वस्तु प्रथम क्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में निरन्वय विनष्ट हो जाती है। निरन्वय शब्दका अर्थ है निःशेष। बौद्ध-सिद्धान्तके अनुसार पदार्थोंके विनाशके लिए विनाशक सामग्रीके समवधानका कोई प्रयोजन नहीं है। सभी पदार्थोंके क्षणकत्वका निरसन करनेके लिए आस्तिक दार्शनिकोंने प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष-पर विशेष गुरुत्व अर्पण किया है। बौद्ध-सिद्धान्तके अनुसार अगर सभी पदार्थोंका क्षणिकत्व स्वीकार किया जाय तब 'यह वही है' इस रूपकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है? यथा 'यह देवदत्त वही है' यह प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष कैसे होता है? यह प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष पूर्वमें दृष्ट देवदत्तके साथ वर्तमानकालमें इन्द्रियके साथ सम्बद्ध देवदत्तके ऐक्यको विषय करता है। अगर देवदत्त क्षणिक होता तब तो 'यह वही देवदत्त है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं होती।

इसके उत्तरमें बौद्ध दार्शनिकगण कहते हैं कि प्रदर्शित प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष सादृश्य–निबन्धन उत्पन्न होता है। इसलिए, वह भ्रम है। अनन्त देवदत्त–क्षणका सन्तान क्रममें उत्पाद-विनाश होनेके कारण उसमें एकत्व-प्रत्यभिज्ञा होती है। अनन्त देवदत्त-क्षणका निरन्तर उत्पाद-विनाश होनेके कारण इस सन्तानमें देवदत्त-सादृश्यका आरोप किया जाता है। वस्तुतः सादृश्य-निबन्धन जो अभेद-ज्ञान है—यह बौद्धोंके कथनानुसार भ्रम है। सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि प्रदीपशिखा निरन्तर उत्पाद-विनाशशील है। इसलिए, 'यह वही प्रदीपशिखा है' इस प्रकार सादृश्य-निबन्धन भ्रम होता है। क्षणिक प्रदीपशिखामें जैसे सादृश्य-निबन्धन स्थैर्य-ज्ञान होता है वैसे ही मृत्तिका अथवा सुवर्ण प्रभृतिके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए।

सादृश्य-निबन्धन घटादिमें मृदादिकी अनुवृत्तिका ज्ञान होता है—घटादिमें मृत्तिका प्रत्यभिज्ञायमान होती है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रत्यभिज्ञाके द्वारा जब अर्थका स्थायित्व सिद्ध होता है तब बौद्ध दार्शनिकोंके द्वारा प्रदर्शित अर्थका क्षणिकत्व-साधकानुमान अनुमानाभास है। जिस प्रकार कृतकत्व-हेतुके द्वारा अग्निका अनुष्णत्वानुमान-अनुमानाभास है, उसी प्रकार पदार्थोंके क्षणिकत्वानुमानको भी समझना चाहिए। इसलिए, मृत्तिका वा सुवर्णमें अन्वय-ज्ञान सादृश्य-निबन्धन-प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति है। ऐसा बौद्ध दार्शनिकोंका कथन सर्वथा अनुचित है।

इस प्रसंगमें स्थैर्य-ग्राही प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष तो क्षणिकत्व साधक अनुमानका विरुद्धार्थग्राही हुआ है, इसलिए दोनों ही सत्य नहीं हो सकते। विरुद्धार्थग्राही प्रमाण-द्वय एकत्र उपनिपतित होनेसे एक प्रमाण होता है और दूसरा प्रमाणाभास। प्रकृत प्रसंगमें प्रत्यक्ष एवं अनुमान विरुद्ध भी हैं और अव्यभिचारी भी—ऐसा नहीं हो सकता।

इस स्थितिमें बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षके द्वारा मृत्-सुवर्णादिकारणका ऐक्य प्रत्यक्ष होता है और अनुमानके द्वारा पूर्वोक्त कारणका भेद गृहीत होता है, क्योंकि, अनुमानके द्वारा सभी पदार्थोंका क्षणिकत्व सिद्ध होसेसे मृत्तिका वा सुवर्ण-प्रभृत्ति कारणका अभेद संभव नहीं हो सकता है। इस स्थितिमें प्रत्यक्ष एवं अनुमान परस्पर विरुद्ध होकर अव्यभिचारी-रूपमें उपनिपतित हो रहा है।[1]

१. परस्पर-विरुद्ध साध्य-द्वयके अव्यभिचारी हेतु-द्वय अगर एक ही धर्मीमें उपनिपतित हो जाय तब उस स्थितिमें वह हेतु-द्वय विरुद्धाव्यभिचारी-हेतु नामसे अभिहित होता है। इसे बौद्ध नैयायिक दिङ्नागने सत्प्रतिपक्षानुमानके स्थलमें प्रदर्शित किया है। सत्प्रतिपक्षानुमानके स्थलमें एक एक साध्यके लिए एक-एक हेतुका निर्देश किया जाता है। परन्तु, साध्य-द्वय परस्पर विरुद्ध होनेपर भी साध्य-द्वयका गमक हेतु अव्यभिचारी है। इस प्रसंगमें दिङ्नागका कथन है कि सत्प्रतिपक्षानुमानके स्थलमें विरुद्धाव्यभिचारी हेतु-द्वय साध्यके संशयमें पर्यवसित होता है। आशय यह है कि प्रदर्शितस्थलमें दोनों साध्यके मध्यमें एकका भी निर्णय नहीं हो पाता है। विरुद्धाव्यभिचारी हेतु संशयका जनक है।

आशय यह है कि स्थैर्य-ग्राहक-प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष सभी पदार्थोंके क्षणिकत्वसाधकानुमानके विरुद्ध है एवं अपने विषयमें अव्यभिचारी है। इस प्रकार क्षणिकत्वसाधकानुमान भी प्रत्यभिज्ञान-प्रत्यक्षके विरुद्ध है और स्वार्थमें अव्यभिचारी हुआ है। इसलिए, प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष क्षणिकत्वानुमान के विरुद्ध और स्वार्थाव्यभिचारी हुआ है तथा क्षणिकत्वानुमान भी प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षके विरुद्ध और स्वार्थाभिचारी हुआ है। इसलिए, जैसे सिद्धान्तीका कथन है कि स्थैर्य-ग्राहक-प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षके द्वारा क्षणिकत्व साधकानुमान बाधित होता है वैसे ही बौद्ध दार्शनिक कहना चाहते हैं कि तूल्यबल-प्रयुक्त क्षणिकत्वसाधकानुमानके द्वारा स्थैर्यग्राही-प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष बाधित क्यों नहीं होगा ?[१] अतः

परन्तु, नैयायिकगण इसे स्वीकार नहीं करते हैं। उन लोगोंका कथन है कि सत्प्रतिपक्षके स्थलमें हेतु-द्वयके विरुद्ध प्रयुक्त साध्यद्वयकी अव्यभिचारिताका अभिमानमात्र होता है। वस्तुतः प्रदर्शित स्थलमें हेतु-द्वय विरुद्ध साक्ष्यद्वयकी अव्यभिचारी हो ही नहीं सकती हैं। अन्तमें अनुसन्धानके द्वारा जब एक पक्षमें दोष उद्भावित होता है तब उस स्थितिमें अपर-पक्षको ग्रहण किया जाता है। नैयायिकोंके अनुसार परस्पर प्रतिहन्यमान होकर एक भी हेतु अपने व्यापक उपस्थान नहीं कर सकता है। उस स्थितिमें संदेह कैसे होगा ? नैयायिक और कहते हैं कि कोई नित्य संदिग्ध-वस्तु कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती है। दिङ्नागका मत स्वीकार करनेसे अनुच्छेद-संशय स्वीकार करना पड़ेगा, लेकिन अनुच्छेद-संशय स्वीकार करना सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। इस रूप प्रतिज्ञा नहीं हो सकती है कि एक व्यक्तिने किसी दूसरेको पाँच रुपये दिये और पाँच रुपये नहीं भी दिये। इस प्रकारकी प्रतिज्ञा भ्रम-प्रयुक्त होती है, यह कभी प्रमाण नहीं हो सकती।

१. पिण्डघघादिव्यतिरेकेण मृदादिकारणस्यानुपलम्भादिति चेन्न। मृदादिकारणानां घटाद्युत्पत्तौ पिण्डादि निवृत्तिदर्शनात्। साहश्यादन्वयदर्शनं न कारणानुवृत्तरिति चेन्न। पिण्डादिगतानां मृदाद्यवयवानामेव घटादौ प्रत्यक्षत्वेऽनुमानामासात्साहश्यादिकल्पनानुपपत्तेः। न च प्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धा व्यमिचारिता।

बृ० उ० मा० टी० पृ० २३

सभी पदार्थोंका क्षणिकत्व-सिद्ध होनेके फलस्वरूप पूर्वोक्त मृत्तिका एवं सुवर्णादिको अन्वय-द्रव्यरूपमें कारण स्वीकार नहीं किया जायगा।[1]

प्रत्यक्ष एवं विचारमें बलाबल-विचार

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि प्रकृत-स्थलमें प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष अनुमानके द्वारा बाधित नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षको उपजीवन करके ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष अनुमानका उपजीव्य है और अनुमान प्रत्यक्षका उपजीवक। अनुमानमें व्याप्ति, पक्ष, लिंग प्रभृति सभी प्रत्यक्ष होता है। इसलिए, अनुमान प्रत्यक्षका उपजीवी है और प्रत्यक्ष अनुमानका उपजीव्य। इस स्थितिमें अगर अनुमान प्रत्यक्षका विरोधी है तब तो वह अनुमान उपजीव्यका विरोधी होनेके कारण दुर्बल है। इसलिए, अनुमान प्रत्यक्षका बाधक नहीं हो सकता है।

इसके उत्तरमें बौद्ध दार्शनिक लोग कहते हैं कि प्रकृत-स्थलमें पदार्थोंका क्षणिकत्व-साधकानुमान स्थैर्यग्राही प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षको उपजीवन कर उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः ऐसी स्थितिमें क्षणिकत्वानुमानके द्वारा प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका बाध क्यों नहीं होगा ?

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीने कहा है कि हाँ, यह बात ठीक है कि क्षणिकत्वसाधकानुमान प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षको उपजीवन कर उत्पन्न नहीं हुआ। लेकिन, बौद्ध दार्शनिकोंको यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष ही है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष क्षणिकत्व-साधकानुमानका साक्षात् उपजीव्य नहीं होनेपर भी उपजीव्य-जातीय हुआ है। इस कारणसे प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका प्राबल्य अक्षुण्ण है। इसी प्रकारक्षणिकत्वानुमान भी प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षको साक्षात् उपजीवन नहीं करने पर भी उपजीवक-जातीय हुआ है, अतः वह दुर्बल है। इसलिए,

१. यत्सत्तत्क्षणिकं यथा दीपः सन्तश्चैमे भावा इत्यनुमानात्सर्वार्थानां क्षणिकत्व-सिद्धेरन्वयदृष्टिः सादृश्याद्भ्रान्तिरिति शङ्कते—सादृश्यादिति। प्रत्यभिज्ञा-सिद्धस्थाप्यविरुद्धे क्षणिकार्थबोधलिङ्गमनुष्णतानुमानवन्न मानमिति दूषयति—नेत्यादिना। सादृश्यादीत्यादिशब्देन प्रत्यभिज्ञाभ्रान्तित्वादि गृह्यते।
बृ० उ० भा० टी० पृ० २३

क्षणिकत्वसाधकानुमान स्थैर्यग्राही-प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षको वाध्य नहीं कर सकता है।

इस स्थितिमें बौद्ध दार्शनिक कहना चाहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष स्वार्थमें पदार्थोंके स्थैर्य-ग्रहणमें स्वतः प्रमाण नहीं है। क्योंकि, बौद्ध-गण, ज्ञानका ज्ञानान्तरके द्वारा जब संवाद होता है तभी उस ज्ञानका प्रमात्व स्वीकार करते हैं। इस स्थितिमें स्थायित्वका साधक कोई ज्ञानान्तर विद्यमान नहीं है जिसके द्वारा प्रत्यभिज्ञाका प्रमात्व साबित हो सके। अतः यही सिद्ध होता है कि प्रत्यभिज्ञाके द्वारा प्रत्यभिज्ञाय-मान विषय भी क्षणिक ही है।

इसके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि बौद्धगण जिस प्रकार युक्तिकी अवतारणा करते हैं उसके फलस्वरूप सर्वत्र अनाश्वास अनवस्था-प्रसंग हो जायेगा। क्योंकि बौद्ध-मत-सिद्ध जो क्षणिकत्वज्ञान है वह भी तो बौद्ध-मतानुसार ही अपने विषयमें स्वतः प्रमात्वका दावा नहीं कर सकते हैं। उसके प्रमात्वके लिए एक और क्षणिकत्व-ज्ञानान्तरकी अपेक्षा रह जायेगी और उसका भी स्वतः-प्रमात्व नहीं रहनेके कारण द्वितीय ज्ञानके भी प्रमात्वके लिए अनुरूप-ज्ञानान्तरकी अपेक्षा हो जायेगी। इस प्रकार ज्ञानधाराकी आपत्ति हो जायेगी। इस अनाश्वास-प्रसंगके परिहारके लिए बौद्धोंको ज्ञानका स्वतः-प्रमात्व स्वीकार करना पड़ेगा। अतः प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका स्वतः-प्रमात्व रहनेके कारण और वह क्षणिकत्वानुमानका उपजीव्य होनेके कारण क्षणिकत्वा-नुमानके द्वारा प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका बाध नहीं हो सकता है।

इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि बौद्धमतमें सभी वस्तु-क्षणिक होनेके कारण वे सब परस्पर-भिन्न हैं एवं परस्पर-भिन्न वस्तुमें 'तदेवेदं'—यह वही है 'ऐसी अभेद-प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्तीके मतानुसार होती है। प्रति-क्षण परस्पर-भिन्न-वस्तुमें यह अभेद-प्रत्यभिज्ञा कभी भी स्वतः-प्रमाण नहीं हो सकती है, क्योंकि, यह पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध-मतमें ज्ञानका ज्ञानान्तरके साथ संवादके द्वारा ही प्रमात्व होता है। फलस्वरूप 'तदेवेदं' इस रूप प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षके लिए अनुरूप-प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षकी अपेक्षा होगी और इस प्रकार सिद्धान्तीके मतमें अनवस्था-दोष आ जायेगा। अतएव जब 'तदेवेदं' ऐसी स्थैर्य-ग्राही-

प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका अनवस्था-प्रयुक्त अप्रमात्व सिद्ध होता है तब सभी वस्तुओंका क्षणिकत्व ही सिद्ध होता है।

इसके उत्तरमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि अगर बौद्धोंसे पूछा जाय कि समस्त वस्तु क्षणिक होनेसे उन क्षणिक वस्तुओंमें अनुवृत्तिज्ञान 'अभेद' प्रत्यभिज्ञा कैसे सम्भव है ? इसके उत्तरमें अगर बौद्धगण कहें कि 'तत्सदृशमिदं'—उसके सदृश यह है। इस प्रकार सादृश्यज्ञान ही अनुवृत्ति-ज्ञान अभेद-प्रत्यभिज्ञाका कारण है तब इसमें वक्तव्य यही है कि 'तत्सदृशमिदं'—यह ज्ञान भी तो बौद्धमतमें स्वतः-प्रमाण नहीं हो सकता है। अतएव इसके प्रमात्वके लिए फिर तदनुरूप-ज्ञानान्तरकी अपेक्षा होगी। फलस्वरूप सिद्धान्तीके मतमें बौद्धगण द्वारा प्रदर्शित अनवस्था-दोष स्वयं बौद्धके मतमें भी आपतित हो जायेगा। इसलिए, भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि इस प्रकार तो सर्वत्र अनाश्वास ही हो जायेगा।

बौद्धमतमें और भी दोष यह है कि वे जो प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका भ्रान्तित्व सिद्ध करना चाहते हैं—यह उनके लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि, वे प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष-स्वरूपका तो अप्रलाप नहीं कर सकते हैं। क्योंकि, वह अनुभव-सिद्ध है। इस स्थितिमें 'तत्सदृशमिदं' स्थलमें तद्-ज्ञान और इदम्-ज्ञान[1] इन दोनोंका समानाधिकरण्येन-सम्बन्ध कहना पड़ेगा। किन्तु क्षणिकत्ववादी-विज्ञानवादी बौद्धमतमें तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके मतानुसार सभी पदार्थ क्षणिक होनेके कारण दो क्षणमें सम्बन्ध रखनेवाला द्रष्टा ही सम्भव नहीं है। आशय यह है कि तत्-ज्ञान एवं इदम्-ज्ञान इन दोनोंका ग्रहीता ज्ञाता अगर एक व्यक्ति सम्भव नहीं हो जाय तब तो तत्-बुद्धि एवं इदम्-बुद्धि दोनों पृथक्-पृथक् हो जायगा। अतीत-काल एवं वर्तमानकालमें विद्यमान दो वस्तुओंका ग्रहीता अगर एक ही व्यक्ति रहे तब उस व्यक्तिको पूर्वोक्त सादृश्य-ज्ञान हो सकता है। एक ही व्यक्ति यदि अतीत और वर्तमान दोनों कालमें रहे तब इस स्थितिमें अतीतके साथ वर्तमानके सादृश्य-विषयक ज्ञान

१. तत् और इदम् इन दोनोंमें समान विभक्ति प्रयुक्त हुई है और वे दोनों एक ही अर्थको समक्षा रहा है। इसलिए इन दोनोंका समानाधिकरण्येन-सम्बन्ध हुआ है—दोनों एक ही वाच्यार्थको निर्देश कर रहे हैं।

उसे हो सकता है। पूर्वोक्त 'तत्सदृशमिदं' वाक्यमें तत् अतीत-काल-बोधक है तथा इदम् वर्त्तमानकाल-बोधक है। अतः क्षणिकत्ववादी बौद्धमतमें यह सादृश्य-विषयक ज्ञान सम्भव ही नहीं है।

इसके समाधानमें बौद्ध दार्शनिक कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्त कारणसे तत्-बुद्धिके साथ इदम्-बुद्धिका सम्बन्ध नहीं भी हो जाय तब भी सादृश्य ही तत्-बुद्धिके साथ इदम् बुद्धिका सम्बन्ध-रूप हो जायगा। सादृश्य-निबन्धन तत्-बुद्धि और इदम्-बुद्धिका सम्बन्ध प्रतीत होगा।

परन्तु, बौद्ध दार्शनिकोंका इस प्रकार भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि, अगर दो वस्तु एक ही ज्ञानका विषय नहीं हो जाय तब वस्तु-द्वयमें सादृश्यज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतीत-वस्तु वर्त्तमान-कालीन प्रत्यक्षका विषय नहीं है तथा वर्त्तमान-वस्तु भी अतीतकालीन प्रत्यक्षका बिषय नहीं है। तत्-बुद्धिका-अतीतका-विषय इदम् वर्त्तमान नहीं हो सकना है। इस प्रकार इदम्—वर्तमानकालीन विषय-तत्-अतीत नहीं हो सकता है। इस स्थितिमें तत्-बुद्धि एवं इदम्-बुद्धिका अगर परस्पर-विषयत्वरूपमें ज्ञान नहीं रहे—तत्-बुद्धिका विषय अगर इदम् नहीं हो जाय और इदम् बुद्धिका विषय अगर तत् नहीं हो जाय—तब तो तत्-बुद्धि एवं इदम्-बुद्धिका सादृश्य भी गृहीत नहीं हो सकता। और, सादृश्य-गृहीत नहीं होनेसे वह सादृश्य-निबन्धन तत्-बुद्धिके साथ इदम्-बुद्धिका सम्बन्ध भी गृहीत नहीं हो सकता है। एक ही बुद्धिमें अगर दोनों विषय भासमान नहीं हो जाय तब सादृश्य-गृहीत कैसे होगा? अतः निष्कर्ष यह हुआ कि तत्-बुद्धिका विषय तत् एवं इदम्-बुद्धिका विषय इदम् होनेके कारण तथा सभी पदार्थ क्षणिक होनेसे इन दोनोंका स्थायी-ग्रहीता-पुरुष क्षणिकत्ववादमें नहीं रहनेके कारण सादृश्य ही सिद्ध नहीं होता है। इसलिए तत्-बुद्धिके साथ इदम्-बुद्धिका सादृश्य-निबन्धन-सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इस स्थितिमें विज्ञानवादी बौद्धोंने अपना समाधान उपस्थापन किया है। उनके मतमें विज्ञान व्यतिरिक्त अन्य कुछ भी विद्यमान नहीं है। इसलिए, विज्ञान-व्यतिरिक्त-सादृश्य भी विद्यमान नहीं है। विज्ञान-स्वालम्बन-बाह्यानालम्बन-विज्ञान-मात्र ही स्वातिरिक्तको आलम्बन-विषय नहीं करता है। फलतः सादृश्य विद्यमान नहीं रहने पर भी

सादृश्य विज्ञानका विषय नहीं रहने पर भी वह विज्ञानका ही आकार स्वीकार किया जायेगा और इससे सादृश्य-विद्यमान नहीं रहने पर भी सादृश्य-बुद्धि उत्पन्न हो जायेगी।

किन्तु, विज्ञानवादियोंका इस प्रकार भी कथन अनुचित है। क्योंकि, इसके फलस्वरूप सादृश्य-ज्ञानका विषय जिस प्रकार असत् है—अविद्यमान है—उसी प्रकार तत्-बुद्धिका विषय एवं इदम्-बुद्धिका विषय भी असत् हो जायगा। अतः सादृश्य जिस प्रकार सिद्ध नहीं हो पायेगा उसी प्रकार तत्-बुद्धिका विषय एवं इदम्-बुद्धिका विषय भी सिद्ध नहीं हो पायेगा।

इसके उत्तरमें विज्ञानवादी कहते हैं कि समस्त बुद्धि-ज्ञान असत्-विषयक है—यही हमलोगोंका सिद्धान्त है। अतः पूर्वोक्त आपत्ति अकिंचित्कर है।

भाष्यकारने इसके उत्तरमें कहा है कि विज्ञानवादियोंके इस कथनके फलस्वरूप तो उनके इस ज्ञान 'क्षणिक-विज्ञान अनालम्बन है' को भी असत्-विषयक-निर्विषयक स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि विज्ञान-वादियोंके सिद्धान्तके अनुसार विज्ञान तो सातिरिक्तको विषय नहीं करता है और इससे विज्ञानवाद ही नहीं सिद्ध होगा। जब स्थिति यह है तब विज्ञानवादी कैसे यह प्रमाणित कर सकते हैं कि 'अन्य विज्ञान बाह्य-वस्तुको आलम्बन' नहीं करता है।

इस स्थितिमें शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकोंने कहा है कि 'सभी ज्ञान असत्-विषयक हैं' यह ज्ञान भी असत्-विषयक है और तब तो कोई पूर्वोक्त दोष नहीं होगा।

किन्तु, इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'सभी ज्ञान असत्-विषयक हैं' यही तो सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि, 'सभी ज्ञान असत्-विषयक हैं' यह ज्ञान अगर असत्-विषयक आप मान लें तब तो इससे 'सभी ज्ञान असत्-विषयक होता है' यह तो सिद्ध नहीं हो पायेगा। क्योंकि, वह तो आपके विरुद्ध जायेगा। इस स्थलका निष्कर्ष प्रदर्शन करते हुए भाष्य-कारने कहा है कि अगर सभी बुद्धियाँ असत् हो जायँ तो असत्-बुद्धिकी उपपत्ति ही नहीं होगी। क्योंकि, प्रभा-बुद्धि विद्यमान है। इसलिए ही असत्-बुद्धिकी उपपत्ति होती है। सभी बुद्धि अगर असत्-बुद्धि हो जाय

तब तो बुद्धिकी सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि, मौलिक-प्रमाण सत्-बुद्धिसे ही असत्-बुद्धि सिद्ध हो सकती है। अन्यथा वह असिद्ध ही रहेगी।

पूर्वोक्त युक्तिके द्वारा यह सिद्ध होता है कि 'सादृश्य-निबन्धन प्रत्यभिज्ञा होती है'—इसे बौद्धगण प्रमाणित करनेमें असमर्थ रहे हैं। फलस्वरूप सिद्धान्तीके अनुसार प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष स्थिर हुआ है और इससे प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षके द्वारा कारणकी भी सत्ता सिद्ध होती है।[1] इस प्रसंगमें प्रतिज्ञा की गयी थी कि 'उत्पत्तिके पूर्वमें कार्य एवं कारण' इन दोनोंका सत्त्व अनुमेय है। पूर्ववर्त्ती युक्तियोंके द्वारा असत्कारणवादी बौद्धमतका निराकरण कर यह सिद्ध किया गया है कि कार्य उत्पत्तिके पूर्वमें कारणका अस्तित्व है। इस प्रकार सत्कारणवाद सिद्ध होता है।[2]

---

१. 'सादृश्य-निबन्धन प्रत्यभिज्ञा होती है' इसे बौद्धगण सिद्ध करनेमें सफल नहीं हुए हैं। उनकी असफलताका विस्तृतरूपसे उपन्यास पूर्वमें ही किया गया है। अतएव प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षके द्वारा पदार्थोंका स्थायित्व सिद्ध होता है और इससे पूर्वोक्त अनुमानमें बौद्धगण द्वारा उद्भावित दृष्टान्तके साध्य-वैकल्यरूप-दोषका परिहार भी हुआ है।

२. प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य सर्वत्रैवानाश्वासप्रसङ्गात्। यदि च क्षणिकं सर्वं तदेवेदमिति गम्यमानं तद्बुद्धेरप्यन्यतद्बुद्ध्यपेक्षत्वे तस्या अप्यन्यद्बुद्ध्य-पेक्षत्वमित्यनवस्थायां तत्सदृशमिदमित्यस्या अपि बुद्धेर्मृषात्वात्सर्वत्रानाश्वा-सतैव। तदिदंबुद्ध्योरपि कर्त्रभावे संबन्धानुपपत्तिः। सादृश्यात्तत्सम्बन्ध इति चेन्न। तदिदंबुद्ध्योरितरेतरविषयत्वानुपपत्तेः। असति चेतरेतरविषयत्वे सादृश्यग्रहणानुपपत्तिः। असत्येव सादृश्ये तद्बुद्धिरिति चेन्न। तदिदंबुद्ध्यो-रपि सादृश्यबुद्धिवदसद्विषयत्वप्रसङ्गात्। असद्विषयत्वमेव सर्वबुद्धीनामस्त्विति चेन्न। बुद्धिबुद्धेरप्यसद्विषयत्वप्रसङ्गात्। तदप्यस्त्विति चेन्न। सर्वबुद्धीनां मृषात्वेऽसत्यबुद्ध्यनुपपत्तेः। तस्मादसदेतत्सादृश्यात्तद्बुद्धिरिति। अतः सिद्धः प्राक्कार्योत्पत्तेः कारणसद्भावः। बृ० उ० भा० टी०पृ० २३-२४

प्रत्यक्षात्कारणैक्यं गम्यते। अनुमानात्तद्भेदः। अतोद्वयोर्विरुद्धत्वस्याव्य-भिचारित्वात्प्रत्यक्षेणानुमानबाधो वैपरीत्यसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। प्रत्यभिज्ञामुपजीव्य क्षणिकत्वानुमानाप्रवृत्तावप्युपजीव्यजातीयत्वात्तत्प्राबल्या-दुपजीवकजातीयकमुक्तानुमानं दुर्बलं तद्बाध्यमित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञा स्वार्थे स्वतो न मानं बुद्ध्यन्तरसंवादादेव बुद्धीनां मानत्वस्य बौद्धैरिष्टत्वात्। न

च बुद्ध्यन्तरं स्थायित्वसाधकमस्तीति प्रत्यभिज्ञायमानस्यापि क्षणिकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह–सर्वत्रेति। प्रसङ्गमेव प्रकटयति–यदि चेति। क्षणिकत्वादिबुद्धेरपि स्वार्थे स्वतोमानत्वाभावात्तादृग्बुद्ध्यन्तरापेक्षायां तस्यापि तथात्वेनानवस्थानात्तद्बुद्धेः स्वतः प्रामाण्यमुपेयम्। तथा च प्रत्यभिज्ञानं सर्वं तथैवाबाधादित्यर्थः। किंच प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तित्वं वदता स्वरूपानपह्नवात्तदिदंबुद्ध्योः सामानाधिकरण्येन संबन्धो वाच्यः, स च वक्तुं न शक्यते क्षणद्वयसम्बन्धिनो द्रष्टुरभावादित्याह—तदिदमिति। असति सम्बन्धे बुद्ध्योः सादृश्यात्तद्बुद्धिरिति शङ्कतेसादृश्यादिति। तयोः स्वसंवेद्यत्वाद्ग्राहकान्तरस्य चाभावान्न सादृश्यसिद्धिरिति दूषयति—न तदिदंबुद्ध्योरिति तथाऽपि किमिति सादृश्यासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—असति चेति।

सादृश्यासिद्धिमभ्युपेत्य शङ्कते—असत्येवेति। यत्र सत्येवार्थे धीस्तत्रैव साधकापेक्षा नान्यत्रेति भावः। तत्र बाह्यार्थवादिनं प्रत्याह–न तदिदंबुद्ध्योरिति। विज्ञानवाद्याह—असदिति। तथा सत्यनालम्बनं क्षणिकविज्ञानमित्यस्यापि ज्ञानस्यासद्विषयतया विज्ञानवादासिद्धिरित्याह—नेति। शून्यवाद्याह–तदपीति। 'सर्वा धीरसद्विषयेत्येषा धीरसद्विषया स्यात्ततश्च सर्वबुद्धेरसद्विषयत्वासिद्धिरिति दूषयति—नेत्यादिना। परपक्षासंभवात्तत्प्रत्यभिज्ञायाः स्थायिहेतुसिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं परिहृत्यावान्तरप्रकृतमुपसंहरति—तस्यादिति। संप्रति कारणसत्त्वानुमानं निगमयति—अत इति। कार्यकारणयोर्द्वयोरपि प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनुमेयमिति प्रतिज्ञाय कारणास्तित्वं प्रपञ्चितमिदानीं कार्यास्तित्वानुमानं दर्शयति—कार्यस्य चेति। प्रागुत्पत्तेः सद्भावः प्रसिद्ध इति चकारार्थः। प्रतिज्ञाभागं विभजते—कार्यस्य चेति।

वृ० उ० भा० टी० पृ० २४-२५

षष्ठ अध्याय

अग्नि-ब्राह्मण

पूर्वानुवृत्ति

सत्कार्यवाद—इस प्रसंगके प्रारम्भमें प्रतिज्ञा की गयी थी कि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्य एवं कारणका सत्त्व अनुमेय है। पूर्ववर्त्ती युक्तियोंके द्वारा असत्कारणवादी बौद्धमतका निराकरण कर कार्योत्पत्तिके पूर्व कारणका अस्तित्व साबित किया गया है। इसलिए अब कार्यके अस्तित्वका अनुमान भाष्यकार प्रदर्शन कर रहे हैं। कार्य उत्पत्तिके पूर्वमें सत् है। कारण अभिव्यक्ति-रूप-लिंगके द्वारा इसका अनुमान किया जा सकता है।

इसमें प्रश्न होता है कि उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्तामें 'अभिव्यक्ति' कैसे हेतु मानी जायेगी ? क्योंकि, उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यकी सत्ता सिद्ध होने पर ही उत्पत्तिके पूर्व कार्य-सत्तानुमानमें 'अभिव्यक्ति' लिंग हो सकती है। अभिव्यक्ति-रूप-लिंग कार्योत्पत्तिके पूर्वमें ही विद्यमान रहने पर उसके द्वारा उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यकी सत्ता सिद्ध हो सकती है और इससे तो स्पष्ट अन्योन्याश्रय-दोष हो जायेगा। उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यकी सत्ता सिद्ध होनेसे उसकी अभिव्यक्ति सत्तानुमानका लिंग हो सकती है। कार्यकी अभिव्यक्तिरूप लिंग अगर उत्पत्तिके पूर्वमें सिद्ध हो जाय तब उसके द्वारा उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यकी सत्ता सिद्ध हो सकती है।

इस अन्योन्याश्रय-दोषका भाष्यकारने परिहार किया है। उनके कथनका आशय यह है कि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्य-सत्तानुमान प्रतिपादन करनेके लिए 'अभिव्यक्तिको' लिंग-रूपसे ग्रहण किया जाता तो वादी एवं प्रतिवादी दोनोंके ज्ञानका विषय है। दोनोंका ही कार्यकी अभिव्यक्ति अनुभव-सिद्ध है। संदेहका विषय है—'उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यकी सत्ता है अथवा नहीं।' इस स्थितिमें प्रतिवादीके लिए संदिग्ध जो उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका सत्त्व है उसका अनुमानवादी एवं प्रतिवादी दोनोंके द्वारा

स्वीकृत अभिव्यक्ति-लिंगके द्वारा किया जा रहा है और इससे प्रदर्शित अन्योन्याश्रय-दोषकी कोई भी सम्भावना नहीं है। 'अभिव्यक्ति' शब्दका अर्थ है साक्षात्रूपमें विज्ञानका विषय बनना। इस स्थलमें उत्पत्तिके पूर्व कार्य-सत्तानुमानमें व्याप्तिका स्वरूप किस प्रकार होगा—यही भाष्यकारने प्रतिपादन किया है। उन्होंने कहा है कि लोक-व्यवहार देखनेमें आता है कि अन्धकारादिसे प्रावृत्त घटादि-वस्तुके अन्धकार-रूप आवरणका जब आलोकादिसे तिरस्कार हो जाता है तब वही घटादि-वस्तु विज्ञानका विषय हो जाता है और इससे यही प्रमाणित होता है कि विज्ञानकी विषयता प्राप्त करनेके पूर्व-आवृत दशामें भी उस घटादि-वस्तुकी सत्ता थी। इस विषयको अगर अनुमानके आकारमें उपस्थापन किया जाय तब वह इस रूप होगा—

जो अभिव्यज्यमान है (पक्ष),
वह अभिव्यक्तिके पूर्वमें विद्यमान है (साध्य),
जैसे अन्धकारके अभ्यन्तरमें घटादि (दृष्टान्त),

इस प्रकार इस जगत्के सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। यह जगत् भी अपनी उत्पत्तिके पूर्वमें आवरणके द्वारा आवृत्त था। आवरणकी निवृत्ति हो जानेपर पुनः यह जगत् विज्ञानका विषय होता है। अब इस प्रकार अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता है—

जगत् (पक्ष),
अभिव्यक्तिके पूर्वमें सत् है (साध्य)
कारण, वह अभिव्यक्तिका विषय होता है (हेतु)

जो जो अभिव्यंजित होता है वह अपनी अभिव्यक्तिके पूर्वमें विद्यमान है, जैसे अन्धकारसे आवृत्त एवं परवर्तीकालमें अभिव्यज्यमान घटादि वस्तु (दृष्टान्त)।

इसमें प्रश्न हो सकता है कि अन्धकारके अभ्यन्तर घट जब अभिव्यंजक-आलोकादिके समीप हो जाता है तब वह घट अभिव्यक्त होता है। इसमें अभिव्यक्त होनेके पूर्वमें घटकी सत्ता अपेक्षित नहीं है।

इसके समाधानमें भाष्यकारने कहा है कि घट अगर अभिव्यक्तिके पूर्वमें विद्यमान नहीं रहे तब किसी भी स्थितिमें उसकी अभिव्यक्ति नहीं

हो सकती है। आदित्यके उदित होने पर भी अविद्यमान घट, अभिव्यक्त नहीं होता है।[१]

इस प्रकरणमें पूर्वपक्षी एक शंका उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि उत्पत्तिके बाद घटादि कार्य सत् है—इसे तो सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं, परन्तु सिद्धान्ती तो उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यको सत् कहना चाहते हैं। उत्पत्तिके पूर्वमें भी कार्य अगर सत् स्वीकार किया जाय तब तो कार्यकी सदा उपलब्धिका प्रसंग हो जायेगा। इसलिए, अभिव्यक्ति-रूप लिंगके द्वारा उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका सत्तानुमान असंगत है।

इस आशयको और स्पष्ट किया गया है। वर्त्तमानकालके बराबर अतीत एवं भविष्यत् जो घट हैं वे भी सिद्धान्तीके मतमें अगर सत् स्वीकार किये जायँ तब तो घटकी उपलब्धिकी सामग्री विद्यमान रहनेसे उस घटादिकी उपलब्धि उत्पत्तिके पूर्व एवं विनाशके बाद भी होना उचित है। आशय यह है कि सिद्धान्तीके मतानुसार घटादि-कार्य कभी अविद्यमान तो है ही नहीं, इसलिए, घटोपलब्धिका विरोधी-कार्यान्तर

१. कार्यस्य चाभिव्यक्तिलिङ्गत्वात्। कार्यस्य च सद्भावः प्रागुत्पत्तेः सिद्धः। कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति। अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्व प्राप्तिः। यद्धि लोके प्रावृतं तमआदिना घटादिवस्तु तदालोकादिना प्रावरणतिरस्कारेण विज्ञानविषयत्व प्राप्नुवत्प्राक्सद्भावं न व्यभिचरति। तथेदमपि जगत्प्रागुत्पत्तेरित्यवगच्छामः। न ह्यविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्य उपलभ्यते। बृ० उ० भा० टी० पृ० २४-२५

अभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति व्युत्पत्त्या कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादिति कार्यसत्वे हेतुरुच्यते सिद्धे हि सत्त्वेऽभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति सिद्धति तद्बलाच्च सत्त्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः। संप्रतिपन्नयाऽभिव्यक्त्या। विप्रतिपन्नं सत्त्वं साध्यते तन्नान्योन्याश्रयत्वमिति परिहरति—अभिव्यक्तिरिति। कथं तर्हीहानुमानं प्रश्नोक्तव्यमित्याशङ्क्य प्रथमं व्याप्तिमाह—यद्धीति। यदभिव्यज्यमानं तत्प्रागभिव्यक्तेरस्ति यथा तमोन्तःस्थं घटादीत्यर्थः। संप्रत्यनुमिनोति—तथेति। विमतं प्रागभिव्यक्तेः सदभिव्यक्तिविषयत्वाद्यदपद्यभिव्यज्यते तत्प्राक्सत्सम्प्रतिपन्नवदित्यर्थः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २५

मृत्पिण्डकी सन्निधि नहीं है और अन्धकारादि आवरण भी नहीं है तब तो उस समय सूर्यके उदित रहनेपर घटकी उपलब्धि होनी ही चाहिए, क्योंकि, सिद्धान्तीके मतमें घटादि-कार्य विद्यमान ही है। इसलिए, घटकी सदा उपलब्धिकी आपत्ति दुर्निवार हो जायगी।[1]

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि विद्यमानत्वमात्र ही कार्यकी सदा उपलब्धिका आपादक नहीं हो सकता है। क्योंकि विद्यमान घटकी भी दो अवस्थायें—अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त–उपलब्ध होती हैं। इस विषयको स्पष्ट करते हुए भाष्यकारने कहा है कि घटादि-कार्यका आवरण दो प्रकारका होता है—(१) मृदादिसे अभिव्यक्त होनेके बाद उत्पन्न घटादि कार्य अन्धकार और भित्ति प्रभृत्ति द्वारा आवृत होता है, एवं (२) मृत्तिकासे अभिव्यक्तिके पूर्वमें–उत्पत्तिके पूर्वमें–मृदादि-अवयव-समूहका पिण्डादि-कार्यान्तर-रूप संस्थानके द्वारा घटादि-कार्य आवृत्त होता है। उत्पन्न घटादिकार्यका दिवाल, अन्धकार प्रभृति आवरक होता है एवं अनुत्पन्न घटादिकार्यका पिण्डादि-विशिष्ट कारण आवरक होता है—यही समझना चाहिए। उपलभ्यमान मृत्तिका-रूप-कारणका अवयव-समूह जब पिण्डादि-रूप-कार्यान्तरके आकारमें अवस्थान करता है तब उस स्थितिमें घटादि-कार्य उपलब्ध नहीं होता है और वह जब नहीं होता है तब घटादि-कार्य उपलब्ध होता है।

इस प्रकार अन्वय एवं व्यतिरेकके द्वारा सिद्ध होता है कि जब मृत्तिका कार्यान्तर-पिण्डरूपमें अवस्थान करता है तब वह घटादिकार्यका आवरक होता है। घटादिकार्यकी अभिव्यक्ति-सामग्रीका अस्तित्व कार्य-घटादिकी अभिव्यक्तिका साधक है। लेकिन, ऐसा कोई नियम नहीं है कि विद्यमान घटादि कार्यकी अभिव्यक्तिकी सामग्री घटके साथ नियत-

---

१. न तेऽविद्यमानत्वाभावादुपलभ्येतेवेति चेत्। न हि तद् घटादिकार्यं कदाचिदप्यविद्यमानमित्युदित आदित्य उपलभ्येतेव। मृत्पिण्डेऽसंनिहिते तमआद्यावरणे चासति विद्यमानत्वादिति चेत्।

बृ० उ० भा० टी०पृ० २५

वर्तमानवदतीतमागमि च घटादि सदेव चेदुपलब्धिसमग्र्यां सत्यां तद्वत्प्राग्जनेर्नाशाच्चोर्ध्वमुपलभ्यते न चैवमुपलभ्यते तस्मादयुक्तं कार्यस्य सदा सत्त्वमित्यर्थः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २५

रूपमें विद्यमान रहेगा। इस तरह घटादि-कार्यके पूर्वोक्त दो प्रकार आवरणके विश्लेषणसे यह सिद्ध होता है कि उत्पत्तिके पूर्वमें विद्यमान घटादि-कार्यका ही आवृतत्त्व-निबन्धन अनुपलब्धि होती है। इसलिए, पूर्वपक्षीकी आपत्ति—'उत्पत्तिके पूर्वमें घटादि-कार्यका अस्तित्व स्वीकार करनेसे घटादि-कार्यकी सदा उपलब्धिका प्रसंग हो जागया'—का कोई अवसर नहीं है।[१]

अब, पुनः प्रश्न होता है कि उत्पत्तिके पूर्वमें अगर कार्यकी सत्ता स्वीकार की जाय तब तो कार्यकी सत्ता सदा स्वीकार करनी पड़ेगी, जिसके फलस्वरूप 'अतीतमें घटादि-कार्य नष्ट हुआ था', 'वर्त्तमानमें घटादि-कार्य विद्यमान नहीं हैं' इत्यादि वाक्य-प्रयोग एवं ज्ञानका भेद उत्पन्न नहीं होगा।

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि जब कपालादिमें घटरूप-कार्यका तिरोभाव होता है तब उस स्थितिमें घटादि-कार्य नष्ट हुआ है—यह व्यवहार होता है। कार्यका निःशेष विनाश नहीं होता है। 'कार्यका विनाश हुआ है'—इस वाक्यका प्रयोग तब होता है जब कार्य अपने कारणमें लीन हो जाता है और घट उत्पन्न हुआ है' इस वाक्यका व्यवहार तब होता है जब पिण्डादि घटका आवरण भंग होनेसे घटकी अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार अन्धकारमें अवस्थित घट जब प्रदीपके द्वारा अन्धकार-निराश हो जानेके बाद अभिव्यक्त हो जाता है तब घटमें भाव व्यवहार होता है, और पिण्डादिके द्वारा घटका जब तिरोभाव होता है तब घटमें अभाव व्यवहार होता है।

१. न। द्विविधत्वादावरणस्य। घटादि कार्यस्य द्विविधं ह्यावरणं मृदादेरभिव्यक्तस्य तमः कुड्यादि प्राङ्मृदोऽभिव्यक्तेर्मृदाद्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तररूपेण संस्थानम्। बृ० उ० भा० टी० पृ० २५

यदोपलभ्यमानकारणावयवानां कार्यन्तराकारेण स्थितिस्तदा नेदं कार्यमुपलभ्यते, तत्रान्यथा चोपलभ्यत इत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धं कारणस्य कार्यन्तररूपेण स्थितस्य कार्यावरकत्वमिति द्रष्टव्यम्। विशिष्टस्य कारणस्याऽऽवरकत्वसिद्धौ सिद्धमर्थमाह—तस्मादिति। बृ० उ० भा० टी० पृ० २६

पूर्वोक्त कथनसे यह स्पष्ट होता है कि अविद्यमान अभिनव कार्यका उत्पाद नहीं है और उत्पन्न कार्यका सर्वथा विनाश भी नहीं है। कारणसे कार्यकी अभिव्यक्तिको कार्यकी उत्पत्ति कहते हैं एवं कारणमें कार्यके तिरोहित हो जानेको कार्यका विनाश कहते हैं। इससे भिन्न कार्यका न तो उत्पाद है और न विनाश है। अतः यह सिद्ध होता है कि सत्-कार्यवादके पक्षमें कार्यकी सदा सत्ता स्वीकार करने पर भी 'अतीतमें—घट नष्ट हुआ था, वर्तमानकालमें—घट विद्यमान नहीं है'—इस रूप वाक्य-प्रयोग एवं ज्ञानका भेद सर्वथा उपपन्न होता है। इसलिए भाष्यकारने कहा है कि 'घटादि-कार्य नष्ट हुआ है', 'घटादि-कार्य उत्पन्न हुआ है', 'घटादि-कार्य विद्यमान है', 'घटादि-कार्यका अभाव है'—इस प्रकार जो शब्द-व्यवहारका भेद और ज्ञानका भेद विद्यमान है वे कार्यकी अभिव्यक्ति एवं तिरोभावकी द्विविधताकी अपेक्षासे है।[१]

अब, प्रश्न होता है कि पिण्डादि घटका आवरक नहीं हो सकता। क्योंकि, पिण्डादि घटके साथ समान देश है—पिण्डसे ही घट उत्पन्न होता है। आवरक आवृत्तके साथ एक देशमें नहीं देखा जाता है, जैसे दिवाल प्रभृति आवरक घटको आवरण करता है लेकिन, वे दोनों साथ एक देशमें अवस्थान नहीं करते हैं। पूर्वपक्षीके आशयको स्पष्ट करते हुए भाष्यकारने कहा है कि अन्धकार एवं दिवाल प्रभृति जो घटादि कार्यके आवरक हैं, वे सब घटादिसे भिन्न देशमें अवस्थान करते हैं। परन्तु, पिण्ड एवं कपालादि जो सिद्धान्तीके मतमें घटादिका आवरक कहा गया है वह तो घटादिसे भिन्न देशमें अवस्थान नहीं करता है। अतः यह कहना अनुचित है कि पिण्ड और कपालके अवयव—सन्निवेश जो

१. तस्मात्प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्याऽऽवृतत्वादनुपलब्धिः। नष्टोत्पन्नभावाभावशब्दप्रत्ययभेदस्त्वभिव्यक्तितिरोभावयोर्द्विविधत्वापेक्षः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २५

कपालादिना तिरोभावे नष्टव्यवहारः पिण्डाद्यावरणभङ्गेनाभिव्यक्तावुत्पन्नव्यहारो दीपादिना तमोनिरासेनाभिव्यक्तौ भावव्यवहारः पिण्डादिना तिरोभावेऽभावव्यवहारः। तदेवं कार्यस्य सदा सत्त्वेऽपि प्रयोगप्रत्ययभेदसिद्धिरित्यर्थः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २६

विद्यमान ही है, वह घटका आवरण करता है, इसलिए, घटकी उत्पत्तिके पूर्व एवं उत्पत्तिके बाद अनुपलब्धि होती है। क्योंकि, पिण्ड और कपालके अवयव-संस्थानमें घटादिके आवरक अन्धकार एवं दिवाल आदिसे वैलक्षण्य उपलब्ध होता है। इसलिए सिद्धान्तीका कथन असंगत है।[१]

समान देशत्व पर पूर्वपक्षीके विशेष आग्रहको ध्यानमें रखकर इसके उत्तरमें इन्हींसे सिद्धान्तीने प्रथम प्रश्न पूछा है कि वे समान देशत्वके द्वारा क्या समझाना चाहते हैं? क्या समान देशत्वसे एकाश्रयत्व समझाना चाहते हैं अथवा एककारणत्व? इसके पूर्व विकल्प समीचीन नहीं हैं। कारण, जब दूधमें जलका मिश्रण होता है तब दूध जलका आवरक होता है और दूधके साथ जल एक ही आश्रयमें अवस्थान करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आवरक आव्रियमाण वस्तुसे भिन्न स्थानमें रहेगी—ऐसा कोई नियम नहीं है। द्वितीय विकल्पको अवलम्बनकर पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि घटादिकार्यमें उसके कपाल एवं मृत् चूर्णादि अवयव-समूह अन्तर्भूत है। मृत्तिकादि कारणका जिस प्रकार घटादि-कार्य है उसी प्रकार कपाल एवं मृत् चूर्णादि अवयव-समूह भी उसका कार्य है। इसलिए एक ही कारणसे उत्पन्न कार्य-समूह एक दूसरेका आवरक नहीं हो सकता है। अतः कपाल एवं मृत् चूर्णादि अवयव-समूह घटका आवरक नहीं हो सकता है।

इस स्थितिमें सिद्धान्ती कह रहे हैं कि घटावस्था प्राप्त मृत्तिका-मात्रमें अवस्थान करनेवाला जो कपालादि है वह घटका आवरक नहीं

१. पिण्डकपालादेरावरणवैलण्याद युक्तमिति चेत्। तमः कुड्यादि हि घटाद्यावरणं घटादिभिन्नदेशं दृष्टं न तथा घटादिभिन्नदेशे दृष्टे पिण्डकपाले। तस्मात्पिण्डकपालसंस्थानयोर्विद्यमानस्यैव घटस्याऽऽवृतत्वादनुपलब्धिरित्ययुक्तमावरणधर्मवैलक्षण्यादिति चेत्। बृ० उ० भा० टी० पृ० २६

पिण्डादि न घटाद्यावरणं समानदेशत्वात्। यद्यस्याऽऽवरणं न तत्तेन समानदेशं यथा कुड्यादीति शङ्कते—पिण्डेति व्यतिरेक्यनुमानं विवृणोति—तम इत्यादिना। अनुमान-फलं निगमयति—तस्मादिति। किमिदं समानदेशत्वं किमेकाश्रयत्वं किं वैककारणत्वमिति विकल्प्याऽऽद्यं विरुद्धत्वेन दूषयति—नेत्यादिना। बृ० उ० भा० टी० पृ० २६

हो सकता है। अगर यह बात पूर्वपक्षी साबित करना चाहते हैं तब तो सिद्ध-साधन-दोष हो जायगा। क्योंकि, सिद्धान्ती भी तो यह बात माननेके लिए तैयार हैं। अनभिव्यक्त घटावस्थ मृत्तिका में अवस्थान करनेवाला जो कपालादि है वह घटका आवरण नहीं करता है, अगर यह पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं तब तो इसके द्वारा पूर्वपक्षीका अभिप्रेत साबित नहीं होगा। क्योंकि, इस स्थितिमें घट एवं कपालादिके आश्रतभूत जो मृदादिके अवयव हैं वे तो परस्पर भिन्न हैं। सिद्धान्तीके कथनका आशय यह हैं कि घटावयव कपालादि जब घटादि-कार्यमें अन्तर्भूत होकर अविभक्त-रूपमें अवस्थान करता है तब उस स्थितिमें वह घटका आवरक नहीं होता है[1], परन्तु कपाल चूर्णादि घटावयव-समूह विभक्त होनेपर घटादि-कार्यमें अन्तर्भूत नहीं रहता है तथा इसके फलस्वरूप घटादि-कार्यसे विलक्षण कार्यान्तर होनेके कारण वे कपालचूर्णादि अवयव-समूह घटादि-कार्यका आवरक हो सकता है।[2]

इस स्थितिमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि अगर यह मान लिया जाय कि घटादि-कार्य उत्पत्तिके पूर्वमें पिण्ड एवं कपालावस्थामें विद्यमान रहते

१. अभिव्यक्त घटावस्थामें जब कपालादि अवस्थान करता है तब वह घटका आवरक नहीं होता है। लेकिन घट अगर अनभिव्यक्त हो, तब उस स्थितिमें कपालादि तो आवरण करता ही है। क्योंकि, घट एवं कपालादिका आश्रय मृदवयव तो भिन्न है। अभेदमें आवरण नहीं होता है। क्यों नहीं होता ? इसके कारणका निर्देश पहले ही किया गया है।

२. न। क्षीरोदकादेः क्षीराद्यावरणेनैकदेशत्वदर्शनात्। घटादिकार्ये कपालचूर्णाद्यवयवानामन्तर्भावादनावरणत्वमिति चेत्। न। विभक्तानां कार्यान्तरत्वादावरणत्वोपपत्तेः।

बृ० उ० भा० टी०पृ० २६

क्षीरेण संकीर्णस्योदकादेराक्रियमाणस्येति यावत्। द्वितीयमुत्थापयति—घटादीति। यस्येदं कार्यं तस्मिन्मृदादावनि तेषामवस्थानात्तद्वत्तेषामनावरणत्वमित्यर्थः। घटावस्थमृन्मात्रवृत्तिकपालोलादेर्घटानावरणत्वमिष्टमेवेति सिद्धसाध्यताऽव्यक्तघटावस्मृद्वृत्तिकपालादेरनावरणत्वसाधने हेत्वसिद्धिर्घटस्य कपालादेश्चाऽऽश्रयमृदवयवभेदादिति दूषयति-न विभक्तानामिति।

बृ०-उ० भा० टी० पृ० २६-७२

हुए भी आवृत्त रहनेके कारण ही उपलब्ध नहीं होता है तब तो घटार्थी व्यक्तिको घटके आवरण-भंगमें ही प्रयत्न करना चाहिए। यह देखनेमें भी आता है कि आवृत-वस्तुकी अभिव्यक्तिके लिए उसके आवरण-भंगमें ही प्रयत्न किया जाता है। अतः घटार्थी, कुम्भकार घटकी उत्पत्तिमें यत्न नहीं कर उसके आवरण-भंगमें ही प्रयत्न करेगा, सत्कार्यवादीका यह सिद्धान्त अनुभव-विरुद्ध है। क्योंकि, यह सर्वानुभव-सिद्ध है कि घटार्थी कुलाल घटके आवरण-भंगमें यत्न नहीं करता है, वह तो प्रयत्नशील रहता है घटोत्पत्तिमें। इससे निष्कर्ष यह होता है कि सिद्धान्ती सत्कार्यवादीका यह कथन अनुचित है कि पिण्ड एवं कपालकी अवस्थाओंमें विद्यमान घटादिकार्य आवृत होनेके कारण उपलब्ध नहीं होता है।

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीने कहा है कि पूर्वपक्षीकी उक्ति–कि 'आवृत-वस्तुकी अभिव्यक्तिके लिए उसके आवरण भंगमें ही प्रयत्न किया जाता है'—इस रूप व्याप्तिमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए, सत्कार्यवाद-सिद्धान्तके विरोधमें पूर्वपक्षी द्वारा अनुभव-विरोधकी प्रदर्शित आपत्ति सर्वथा असमीचीन है। क्योंकि आवरण-विनाश-मात्रके प्रयत्नके साथ आवृत-घटादि वस्तुकी अभिव्यक्तिका कोई नियत सम्बन्ध विद्यमान नहीं है, क्योंकि, अन्धकारसे आवृत घटादि-वस्तुकी अभिव्यक्तिमें घटार्थी व्यक्ति प्रदीपकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्न करता ही है और घटादिके आवरण विनाश-मात्रके प्रयत्नके साथ ही घटादिको अभिव्यक्तिका कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। अपितु, अन्धकारके द्वारा आवृत-घटादिकी अभिव्यक्तिके लिए प्रदीपादिकी उत्पत्तिमें घटार्थी व्यक्तिका यत्न प्रत्यक्ष सिद्ध है।

पूर्वपक्षी इसके उत्तरमें कहते हैं कि पूर्वमें जो सिद्धान्तीके विरोधमें अनुभव-विरोध-प्रसंग उपस्थापित किया गया है, वह अभी भी विद्यमान है, क्योंकि, अन्धकारादिसे आवृत घटादिकी अभिव्यक्तिके लिए जो प्रदीपादिको उत्पादन करनेके लिए घटार्थी व्यक्तिका प्रयत्न होता है वह भी तो अन्धकारादि आवरणका विनाशके लिए ही होता है। पूर्वपक्षीका आशय यह है कि प्रदीपादिकी उत्पत्तिमें भी जो घटार्थीका प्रयत्न है वह भी तो अन्धकारको तिरस्कार करनेके लिए ही होता है। अन्धकारादि आवरण-विनष्ट हो जानेके बाद घट स्वयं उपलब्ध होता है।

उस स्थितिमें अभिव्यक्तिरूप किसी धर्मका आधान घटमें नहीं किया जाता है।[१]

इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी असत्कार्यवादी बौद्धोंका इस प्रकार कहना अनुचित है, क्योंकि, प्रदीपके द्वारा प्रकाशवान्-अभिव्यक्ति जो विशिष्ट-घट है वही घट उपलब्धिका विषय होता है। आशय यह है कि जिस प्रकार प्रदीप उत्पादनके बाद प्रकाशयुक्त घटकी उपलब्धि होती है उस प्रकार प्रदीप उत्पादनके पूर्व प्रकाशयुक्त घटकी उपलब्धि नहीं होती है। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि मात्र अन्धकारादि आवरणका विनाशके लिए ही प्रदीपका निर्माण नहीं किया जाता है, बल्कि, घट प्रकाशवान् करनेके लिए भी प्रदीपका निर्माण होता है। प्रकाशयुक्त होने पर ही वस्तुकी उपलब्धि होती है; इसलिए, प्रदीपके द्वारा प्रकाशयुक्त घटका ज्ञान होता है।

इस स्थितिमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि तब तो इस प्रकार नियम स्वीकार करना चाहिए कि "आवृत घटके आवरण भंगमें प्रयत्न नहीं किया जाता है।'

१. आवरणाभाव एव यत्नः कर्त्तव्य इति चेत्पिण्डकपालावस्थापस्थयोर्विद्यामानमेव घटादिकार्यमावृतत्वान्नोपलभ्यत इति चेत्। घटादिकार्यार्थिना तदावरणविनाश एवं यत्नः कर्त्तव्यो न घटाद्युत्पत्तो। न चैतदस्ति तस्मादयुक्तं, विद्यमानस्यैवाऽऽवृतत्वादनुपलब्धिरिति चेत्। न। अनियमात्। न हि विनाश मात्रप्रयत्नादेव घटाद्यभिव्यक्तिर्नियता तमसाद्यावृते घटाद्यौ प्रदीपाद्युत्पत्तौ प्रयत्नदर्शनात्। सोऽपि तमोनाशायैवेति चेत्। दीपाद्युत्पत्तावपि यः प्रयत्नः सोऽपि तमस्तिरस्करणाय तस्मिन्नष्टे घटः स्वयमेवोपलभ्यते। न हि घटे किंचिदाधीयत् इति चेत्। बृ० उ० भा० टी० पृ० २७

विद्यमानस्यैवाऽऽवृतत्वादनुपलब्धिश्चेदावरणतिरस्कारे यत्नः स्यान्न घटादेरुत्पत्तावतोऽनुभवविरोधः सत्कार्यवादिनः स्यादिति शङ्कते—आवरणेति। तदेव प्रपञ्चयति—पिण्डेति। यत्राऽऽवृतं वस्तु व्यज्यते तत्राऽऽवरणभंग एव यत्न इति व्याप्त्यभावान्नानुभवविरोधोऽस्तीति दूषयति—नानियमादिति। अनियमं साधयति—न हीति। तमसाऽऽवृते घटादौ दीपोत्पत्तो यत्नोऽस्तीयत्र चोदयति सोऽपीति। अनुभवविरोधमाशङ्क्योक्तमेव व्यनक्ति—दीपादिति। बृ० उ० भा० टी० पृ० २७

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि इस प्रकारका अव्यभिचरित नियम भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि कहीं-कहीं आवृत घटके आवरणका विनाशके लिए भी प्रयत्न किया जाता है, जैसे घटोपलब्धिमें दिवाल आदि आवरणके विनाशमें प्रयत्न किया जाता है। अतः यह सिद्ध नियम नहीं है कि 'घटकी अभिव्यक्तिके लिए नियत आवरणके विनाशमें ही प्रयत्न करना चाहिए।'

अभिप्राय यह है कि अभिव्यंजकके व्यापारमें विद्यमान होनेसे नियत घटकी अभिव्यक्ति होती है एवं पूर्वोक्त अभिव्यंजकका व्यापारके अभावमें घटकी अभिव्यक्ति नहीं होती है—इस प्रकार अन्वय एवं व्यतिरेकके द्वारा यह अवधारित होता है कि घटकी अभिव्यक्तिके लिए ही कुम्भकारादिका व्यापार तो निर्विषयक नहीं हो सकता, और जहाँतक आवरणके भंगकी बात है वह तो आर्थिक ही निष्पन्न हो जाता है—वह कुम्भकारके व्यापारका साक्षात् विषय नहीं है। घटकी अभिव्यक्ति ही आवरण-भंगपूर्वक होती है, इसलिए आवरण-भंग अर्थात् सिद्ध होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि कहीं-कहीं आवरण विनाशमें भी प्रयत्न होता है। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि अभिव्यक्तिके लिए आवरण-निवृत्तिमें ही नियत प्रयत्न करना चाहिए—ऐसा कोई नियम नहीं है।

इसमें और बात यह है कि आवरण-भंगके लिए ही घटार्थीका प्रयत्न अगर स्वीकार किया जाय तब तो घटकी उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि, जिसके लिए प्रयत्न किया जायेगा उसे ही वह प्रयत्न सम्पादित करेगा। जहाँ आवरण-भंगके लिए प्रयत्न किया जायेगा वहाँ तो उस आवरण-भंगमें ही वह प्रयत्न चरितार्थ होगा घटोपलब्धिमें नहीं, इसलिए कुम्भकारादिका प्रयत्न नियत उपलब्धिके लिए है—यही स्वीकार करना पड़ेगा। इसीमें प्रयत्नका नियम भी सफल होगा।[1]

१. न। प्रकाशवतो घटस्योपलभ्यमानत्वात्। यथा प्रकाशविशिष्टो घट उपलभ्यते प्रदीपकरणे तथा प्राक्प्रदीपकरणात्। तस्मान्न तमस्तिरस्कारायैव प्रदीपकरणं किं तर्हि प्रकाशवत्त्वाय। प्रकाशवत्त्वेनैवोपलभ्यमानत्वात्। क्वचिदावरणविनाशेऽपि यत्नः स्यात्। यथा कुड्यादिविनाशे। तस्मान्न नियमोऽस्त्यभिव्यक्त्यर्थिनाऽऽवरणविनाश एव यत्नः कार्यं इति।
बृ० उ० भा० टी० पृ० २७

इस विषयको स्पष्ट करते हुए भाष्यकारने कहा है कि नियत व्यापारकी सफलताके लिए भी प्रयत्न करना आवश्यक है। पहले कहा जा चुका है कि कारणमें विद्यमान कार्य अन्य• कार्यका आवरण करता है। इस स्थितिमें घटार्थीका प्रयत्न अगर आवरण-भंगके लिए ही स्वीकार किया जाय तब तो पूर्वकालमें अभिव्यक्त पिण्ड-रूप-कार्य अथवा व्यवहित[1] कपालरूप-कार्यके विनाशमें ही घटार्थीका प्रयत्न होगा, कारण वे दोनों ही घटके आवरक हैं। इसलिए पिण्ड अथवा कपालके विनाश हो जानेसे कपालके दोनों दलका चूर्ण भी कार्य हो जायगा; क्योंकि, घटार्थी तो आवरण-भंगमें ही प्रयत्नशील है। बात ही यहाँ नहीं रहेगी। पूर्वोक्त द्विदल-चूर्णरूप कार्यके द्वारा आवृत होनेके कारण भी घट उपलब्ध नहीं होगा। पुनः इस द्विदल-चूर्णादि-रूप आवरणको भंग करनेके लिए प्रयत्नान्तरकी अपेक्षा होगी। इस प्रकार प्रयत्नका कहीं भी विराम नहीं होगा। इस स्थितिमें घटकी अभिव्यक्तिके साथ ही घटार्थीके प्रयत्नका सम्बन्ध अगर स्वीकार किया जाय, घटकी अभिव्यक्ति-के लिए ही घटार्थीका प्रयत्न होता है अगर यह स्वीकार किया जाय तब तो घटके निष्पादक कुलालादिका प्रयत्न सफल हो सकेगा। इस प्रकार इन युक्तियोंसे यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार द्वारा प्रारम्भमें ही प्रदर्शित अभिव्यक्ति-लिंगक अनुमान निर्दोष है, अतः उसका प्रामाण्य स्वीकार कर लेना उचित है और इससे यही सिद्ध होता है कि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्य सत् है।[2]

दीपस्तमस्तिरयति चेत्कथं कुम्भोपलब्धिरत आह—तस्मिन्निति। तत्र हेतुमाह—न हीति। अनुभवमनुसृत्य परिहरति—नेत्यादिना। किमिदानीमावरणभङ्गे प्रयत्नो नेत्येव नियमोऽस्तु नेत्याह—क्वचिदिति। अनियमं निगमयन्ननुभवविरोधाभावमुपसंहरति—तस्मादिति।

किंचाभिव्यञ्जकव्यापारे सति नियमेन घटो व्यज्यते तदभावे नेत्यन्वयव्यतिरेकावचारितो घटार्थः कुलालादिव्यापारस्तस्यार्थमभिव्यक्त्यर्थ एव प्रयत्नो वक्तव्य आवरणभङ्गस्त्वार्थिक इत्याह—नियमेति।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २७-२८

१. पिण्डके बाद कपाल उत्पन्न होनेके कारण कपालको व्यवहित कहा गया है।

२. नियमार्थवत्त्वाच्च। करणे वर्तमानं कार्यं कार्यान्तराणामावरणमित्यवोचाम।

इस प्रसंगमें भाष्यकारने और युक्तियोंकी अवतारणा करते हुए कहा है कि भूत और भविष्यत् प्रतीतियोंके भेदसे भी कार्यकी सत्ता सिद्ध होती है। अतीत एवं अनागत विषयक घट-ज्ञानमें घट विशेषण है और इसके द्वारा अघटविषयक-ज्ञान व्यावर्तित होता है। अगर असत्कार्यवादी बौद्धोंका मत स्वीकार किया जाय तब तो उनके मतसे अतीत एवं अनागत घट असत् होनेके कारण अतीत एवं अनागत घट-विषयक-ज्ञान कैसे उपपन्न होगा? वर्तमान घट-विषयक-ज्ञान जिस प्रकार सविषयक है उसी प्रकार अतीत एवं अनागत घट-विषयक-ज्ञान भी सविषयक ही है। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वपक्षीके मतको स्वीकार करनेसे अतीत घट-विषयक-ज्ञानके साथ अनागत घट-विषयक-ज्ञानका भेद ही उपपन्न नहीं होगा, कारण वे दोनों ही पूर्वपक्षीके मतमें असत् हैं। लेकिन, ज्ञान-मात्र सविषयक है, निर्विषयक-ज्ञान तो प्रसिद्ध भी नहीं है। अतः पूर्वपक्षीका कथन असंगत है।

फिर, अतीत घट एवं अनागत घट इन प्रत्ययोंको वर्तमान घट-प्रत्ययके समान ही सविषयक होना उचित है, क्योंकि, अनागत-विषयमें पुरुषकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अनागत-वस्तु अगर असत् हो जाय—भविष्यत घट अगर असत् हो जाय तब तो उसके लिए पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होगी। असत् पदार्थकी इच्छासे लोकमें किसी पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। इसलिए स्वीकार करना पड़ेगा कि घटादि कार्य उत्पत्तिके पूर्वमें भी सत् है।

तत्र यदि पूर्वाभिव्यक्तस्य कार्यस्य पिण्डस्य व्यवहितस्य वा कपालस्य विनाश एव यत्नः क्रियेत। तदा विदलचूर्णाद्यपि कार्यं जायेत। तेनाप्यावृतो घटो नोपलभ्यत इति पुनः प्रयत्नान्तरापेक्षैव। तस्माद्घटाद्यभिव्यक्त्यर्थिनो नियत एव कारकव्यापारोऽर्थवन्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरपि सदेव कार्यम्।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २७-२८

उक्तं स्मारयन्नेतदेव विवृणोति—कारणे इत्यादिना। आवृत्तिभङ्गार्थे यत्ने यतो घटानुपलब्धिरतस्तदुपलब्ध्यर्थत्वेन नियतः सन्यत्नः सफलः स्यादिति फलितमाह—तस्मादिति। प्रकृतमभिव्यक्तिलिङ्गकमनुमानं निर्दोषत्वादादेयं मन्वानस्तत्फलमुपसंहरति—तस्मात्प्रागिति।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २८

इसमें और भी बात यह है कि योगी और ईश्वरका अतीत एवं अनागत विषयक प्रत्यक्षज्ञान स्वीकार किया जाता है। यह प्रत्यक्ष-ज्ञान विद्यमान वस्तुका ही होता है। अतः योगी और ईश्वरके अतीत एवं अनागत विषयक-प्रत्यक्ष-ज्ञानको उत्पन्न करानेके लिए भी घटकी सदा सत्ता स्वीकार करनी चाहिए। बौद्ध सिद्धान्तके अनुसार अगर अतीत एवं अनागत घटको असत् स्वीकार किया जाय तब तो योगी एवं ईश्वरके अतीत एवं अनागत विषयक प्रत्यक्ष-ज्ञान मिथ्या हो जायेगा, क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्यक्ष विद्यमान वस्तुको ही ग्रहण करता है। अविद्यमान भी अगर प्रत्यक्ष हो जाय तब तो यही मानना पड़ेगा कि अविद्यमान विद्यमान-रूपमें भासमान हो रहा है। असत्—विद्यमान घट अगर विद्यमान-रूपमें भासमान हो जाय तब वह भ्रमके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? और इससे योगी एवं ईश्वरके अतीत एवं अनागत विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या—भ्रम हो जायेगा।[1] परन्तु, यह तो शास्त्र-विरुद्ध है।[2]

१. योगीको अतीत एवं अनागत विषयक प्रतीति क्या मिथ्या-प्रतीति है, योगीका पूर्वोक्त ज्ञान क्या प्रत्यक्ष है, अथवा अनुमिति है, अथवा उपमिति है, अथवा शब्द है? जो कुछ भी हो योगीके पूर्वोक्त ज्ञानको प्रत्यक्ष ही समझना चाहिए। किन्तु, इसमें आपत्ति यही है कि मीमांसा सूत्रकार जैमिनिने कहा है कि प्रत्यक्ष-मात्र ही विद्यमान विषयक होता है। इसलिए, योगी अगर अविद्यमानको विद्यमान-रूप में प्रत्यक्ष करें तब तो योगी-प्रत्यक्ष-मात्र ही भ्रम हो जायगा। इसलिए मानना पड़ेगा कि सूक्ष्मावस्थामें विद्यमान वस्तुको ही योगी प्रत्यक्ष करता है। इस कारणसे ही भाष्यकारने कहा है कि 'योगिनां चातीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वात्।' बौद्धगण ईश्वर भले ही स्वीकार नहीं करें; किन्तु, योगीका पूर्वोक्त-रूप प्रत्यक्ष तो वे भी स्वीकार करते हैं।

२. अतीतानागतप्रत्ययभेदाच्च। अतीतो घटोऽनागतो घट इत्येतयोश्च प्रत्यययोर्वर्तमानघटप्रत्ययवन्न निर्विषयत्वं युक्तम्। अनागतार्थिप्रवृत्तेश्च। न ह्यसत्यर्थितया प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा। योगिनां चातीता नागतज्ञानस्य सत्यत्वात्। असंश्चेद्भविष्यद्घट ऐश्वरं भविष्यद्घटविषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात्। न च प्रत्यक्षमुपचर्यते। बृ० उ० भा० टी० पृ० २८

इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि पूर्वोक्त योगी अथवा ईश्वरके प्रत्यक्षको वस्तुतः प्रत्यक्ष-रूपमें स्वीकार नहीं करेंगे। परन्तु, वे प्रत्यक्ष हैं एवं वे अप्रत्यक्षमें प्रत्यक्षके उपचार-आरोप हैं।

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीने कहा है कि उपचार तभी होता है जबकि बाधक रहे, परन्तु, प्रदर्शित स्थलमें कोई बाधक नहीं है। आनन्दगिरिने इस प्रसंगको स्पष्ट करते हुए कहा है कि बाधक बाधितसे स्पष्टतः अधिक बलवान् होता है। लेकिन योगी एवं ईश्वरके प्रत्यक्ष-ज्ञानसे अधिक बल-विशिष्ट कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होनेके कारण उसका कोई भी ज्ञान बाधक हो नहीं सकता। अतः योगी एवं ईश्वरके प्रत्यक्ष-ज्ञानको मिथ्या नहीं कहा जा सकता है, और जब ये मिथ्या नहीं है तब तो इन्हें औपचारिक-प्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता है। इसलिए, वे सर्वथा यथार्थ प्रत्यक्ष ही हैं।

इसके उत्तरमें पूर्वपक्षीने फिर कहा है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि योगी एवं ईश्वरका प्रत्यक्षज्ञान यथार्थ है, तथापि इस प्रत्यक्ष-ज्ञानका विषय घट 'उत्पत्तिके पूर्वमें एवं उत्पत्तिके बादमें भी असत् क्यों नहीं होगा ? अर्थात् योगी एवं ईश्वरका प्रत्यक्ष-ज्ञान प्रदर्शित असत् घट विषयक क्यों नहीं होगा ?[१]

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीने कहा है कि उत्पत्तिके पूर्वमें एवं उत्पत्तिके बादमें घट जो सत् है इसके विषयमें पहले ही अनुमान-प्रमाणके द्वारा

१. कार्यस्य सत्त्वे युक्त्यन्तरमाह—अतीतेति। विमतं सदर्थं प्रमाणत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यर्थः। तदेवानुमानं विशदयति—अतीत इति। अत्रैवोपपत्यन्तरमाह—अनागतेति। आगामिनि घटे तदर्थित्वेन लोके प्रवृत्तिर्दृष्टा न चात्यन्तासति सा युक्ता तेन तस्यासद्विलक्षणतेत्यर्थः। किं च योगिनामीशस्य चातीतादिविषयं प्रत्यक्षज्ञानमिष्टं तच्च विद्यमानोपलम्भनमतो घटस्य सदा सत्त्वमित्याह—योगिनां चेति। ईश्वरसमुच्चयार्थश्चकारः। भविष्यद्-ग्रहणमतीतोपलक्षणार्थम्। ऐश्वरं यौगिकं चेति द्रष्टव्यम्। प्रसङ्गस्येष्टत्वमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। अधिकबलं हि बाधकं न चानतिशयादेशादिज्ञानादधिकबलं ज्ञानं दृष्टमतो बाधकाभावान्न तन्मिथ्येत्यर्थः। तस्य सम्यक्त्वेऽपि पूर्वोत्तरकालयोरसद्घटविषयत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—घटेति। पूर्वोत्तरकालयोरिति शेषः। बृ० उ० भा० टी० पृ० २८

सिद्ध की गयी है। उत्पत्तिके पूर्वमें 'घट असत् नहीं हो सकता है' इसमें भाष्यकारने कारणान्तरका प्रदर्शन किया है। पूर्वपक्षीमें इसका प्रश्न किया गया है कि घटके कारक कुलालादिका व्यापार जब घटोत्पत्तिके लिए हो रहा है तब उस दशामें पूर्वपक्षीके कथन—'घट असत् है' में प्रयुक्त 'असत्' शब्दका क्या अर्थ है ? क्या इसके द्वारा पूर्वपक्षी यह कहना चाहते हैं कि उस समयमें घट भविष्यत्त्वादि-रूपमें नहीं है ? अथवा, घट उस समयमें अर्थ-क्रिया[1]-सामर्थ्यवान् नहीं है ?

प्रथम विकल्पमें व्याघात स्पष्ट है, क्योंकि, घटकी अभिव्यक्तिके लिए कुलालादि जब व्यापार कर रहा है तब उस स्थितिमें घट भविष्यत् कालमें उत्पन्न होगा—यह तो प्रत्यक्ष-प्रमाणके द्वारा निश्चित ही हुआ है। कालके साथ वस्तुका सम्बन्ध ही उत्पत्ति है। घटके साथ कालका सम्बन्ध होनेवाला है तब उस स्थितिमें घट असत् है—यह कैसे पूर्वपक्षी कह सकते हैं ? यह तो सर्वथा विरुद्ध कथन है। कुम्भकारादि कारकके व्यापारके द्वारा अवच्छिन्न-कालके साथ जब भविष्यत्-रूपमें घटका सम्बन्ध विवक्षित होता है तब 'घट भविष्यत्कालमें होगा'—इस रूप व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त-कालके साथ जब अतीत्व-रूपमें घटका सम्बन्ध विवक्षित होता है तब 'घट हुआ था' इस प्रकार वाक्य-प्रयोग होता है। जब स्थिति यही है तब पूर्वोक्त-कालमें ही घट असत् है—पूर्वपक्षी अगर यही कहें तब तो व्याघात हो जायेगा।

सिद्धान्तीने स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो कार्य अपने कारककी व्यापार दशामें भविष्यत्वादिरूपमें विद्यमान है उस कार्यको अगर उसी कालमें कहा जाय कि वह विद्यमान नहीं है तब तो यही हुआ कि उस कार्यके कारककी व्यापार-दशामें भविष्यत्वादि-आकारमें वह कार्य असत् है। और इसके फलस्वरूप जिस कालमें और जिस आकारमें घट विद्यमान है वही उसी कालमें और उसी आकारमें विद्यमान नहीं है—यही पूर्वपक्षीके कथनका निर्यास होता है, और इससे

१. अर्थक्रिया है प्रयोजन-निष्पादन। अग्निकी अर्थक्रियादाहपाकादि प्रयोजनका निष्पादन है, घटकी अर्थक्रिया जलाहरणादि प्रयोजनका निष्पादन है।

व्याघात-दोष स्पष्ट है।' यह तो जैसे इस रूप कथनके बराबर होगा कि "पूर्ववर्त्ती यह वस्तु घट है परन्तु यह विद्यमान नहीं है।' विद्यमान वस्तुके साथ ही कालका सम्बन्ध हो सकता है। भविष्यमें अगर घटको सत्ता हो जाय तभी घटके साथ कालका सम्बन्ध सम्भव है। उस स्थितिमें 'घट असत् है' इस प्रकार कहनेसे ही व्याघात स्पष्ट है।

पूर्वोक्त द्वितीय विकल्प सिद्धान्तीका भी अनभिमत नहीं है, कारण पूर्वपक्षी अगर कहें कि जब घटोत्पत्तिके लिए कुम्भकारादि व्यापार कर रहा है तब जिस प्रकार व्यापार-रूपमें कुम्भकारादि विद्यमान है उस प्रकार घटोत्पत्तिके पूर्व घट विद्यमान नहीं होनेके कारण घट असत् है— इस प्रकार 'असत्' शब्दका अर्थ अगर पूर्वपक्षी स्वीकार करें तब तो सत्कार्यवाद-पक्षका विरोध नहीं होता है। सिद्धान्ती कहते हैं कि इतना तो मैं भी माननेके लिए तैयार हूँ।

इसमें प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती तो सत्कार्यवादी हैं तब उनके लिए पूर्वोक्तरूप असत्कार्यवाद-पक्ष स्वीकार करना कैसे अविरुद्ध हो सकता है ?

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीने कहा है कि तुच्छ आकाशपुष्प-प्रभृतिसे भिन्न जो घटकी सत्ता घटोत्पत्तिके पूर्वमें है वही सिद्ध करना

१. भविष्यमें घटके साथ कालका सम्बन्ध करानेके लिए ही कुम्भकार व्यापार करता है—यह पूर्वपक्षी एवं सिद्धान्ती दोनोंके लिए प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस स्थितिमें पूर्वपक्षी अगर कहते हैं कि भविष्यमें घटके साथ जो कालका सम्बन्ध होगा 'वह घट असत् है' तब तो इसका अर्थ होगा कि भविष्यमें उस घटका कालके साथ सम्बन्ध नहीं हो पायेगा। लेकिन भविष्यमें घटके साथ कालका सम्बन्ध करानेके लिए ही कुम्भकार कार्यरत है—यह तो पूर्वपक्षीके लिए भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इस स्थितिमें जब पूर्वपक्षी भी मानते हैं कि भविष्यमें घटका कालके साथ सम्बन्ध होनेवाला है तब वे कैसे कह सकते हैं कि भविष्यमें जिस घटका कालके साथ सम्बन्ध होनेवाला है 'वह घट असत् है।' इस प्रकार कहनेसे तो पूर्वपक्षीको स्वीकार करना होगा कि भविष्यमें घटका कालके साथ जो सम्बन्ध होनेवाला है वह सम्बन्ध नही होगा।

उनका अभीष्ट है। उत्पत्तिके पूर्वमें अगर पूर्वपक्षी भी घटका अर्थक्रिया-सामर्थ्य-निषेध करते हैं तब दोनों पक्षोंमें विप्रपत्ति नहीं है। सिद्धान्तीका आशय यह है कि उत्पत्तिके पूर्वमें घट अपने भविष्यत्-रूपमें विद्यमान है और इसलिए आकाश-पुष्पके बराबर उसे असत् स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इसमें प्रश्न होता है कि सिद्धान्तीके मतमें तो पिण्डकपाल एवं घट, मृत्तिका-मात्र हैं। इस अंशमें किसीमें भेद नहीं है। इसलिए पिण्डादिकी वर्तमानता घटकी वर्तमानता हो जायगी और घटका अतीतत्व और भविष्यत्व पिण्ड एवं कपालका अतीतत्व और भविष्यत्व हो जायगा, फलतः सांकर्य दोष होगा।

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीने कहा है कि पिण्डकी वर्तमानता अथवा कपालकी वर्तमानता घटकी वर्तमानता नहीं हो सकती है। इस प्रकार घटकी भविष्यता पिण्ड अथवा कपालकी भविष्यता नहीं हो सकती। आशय यह है कि व्यवहार दशामें जिस प्रकार ज्ञान होता है उसी प्रकार ज्ञानके अनुसार घटादिमें सद्सद् विलक्षण अनिर्वाच्य संस्थान-भेद स्वीकारकर सिद्धान्तीका निर्वाह होता है, और इसलिए पूर्वोक्त सांकर्य-दोषका कोई अवसर नहीं है। इसलिए कुम्भकरादिका व्यापार जब विद्यमान है तब उत्पत्तिके पूर्वमें घट असत् अविद्यमान है इस प्रकार कहनेसे सिद्धान्तीका पूर्वपक्षीके साथ कोई विरोध नहीं होता है, क्योंकि उस स्थितिमें घट असत्-अविद्यमान है इस प्रकार सिद्धान्ती स्वीकार करनेके लिए तैयार है। उस स्थितिमें घटकी अर्थक्रिया नहीं है, इसलिए घट असत्—इस रूपमें पूर्वपक्षी यदि स्वीकार करें तब दोनों मतमें कोई विरोध नहीं है।

आशय यह है कि जिस कालमें घटका कारक-समूह व्यापार करता है उस कालमें घटको अगर असत् स्वीकार किया जाय तब घटका भविष्यत्वादि-रूप उस कालमें निषिद्ध हो जायगा और इससे तो प्रदर्शित-रूपमें व्याघात हो जायगा। घटके तीन रूप हैं वर्तमानरूप, अतीतरूप एवं भविष्यत्‌रूप। प्रदर्शित स्थलमें जब कारक-समूह व्यापार कर रहा है तब उस कालमें घटके भविष्यत्वादि-रूपकी सत्ताका निषेध नहीं किया जा सकता है। उस कालमें अर्थक्रिया-सामर्थ्यका ही निषेध किया जा

सकता है और इससे सिद्धान्तीके साथ विरोधका कोई अवकाश नहीं है। वर्तमान-प्रसंगमें बौद्ध दार्शनिकगग अगर 'असत्' शब्दका अर्थ अलीक-आकाश-कुसुम-प्रभृति ग्रहण करें तब तो उनका सिद्धान्तीके साथ विरोध हो जायगा, लेकिन वे अगर 'असत्' शब्दका अर्थ अर्थक्रिया-सामर्थ्यका अभाव स्वीकार करें तो उनको सिद्धान्तीके साथ कोई विरोध नहीं होगा।

इस विषयको और स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तीने कहा है कि यदि उत्पत्तिके पूर्वमें घटका अपना जो स्वरूप है जो स्वरूप भविष्यत्में कार्य होना रूप है इसे अगर पूर्ववर्ती निषेध करें तब तो सिद्धान्तीके साथ उनका विरोध अवश्य हो जायगा। परन्तु, पूर्वपक्षी तो घटका भविष्यत्में कार्य होना रूप जो स्वरूप है एवं घटका अतीत होना रूप जो स्वरूप है इसे तो वे निषेध नहीं कर सकते—असत् नहीं कह सकते हैं।[१]

इस विषयमें अधिक वक्तव्य यह है कि सभी उत्पादशील-वस्तुका एक ही वर्त्तमानता-रूपका भविष्यत्-रूप नहीं हो सकता है।[२]

---

१. पूर्वमें पूर्वपक्षी बौद्धोंने एक शंका उपस्थापनकर कहा था कि सिद्धान्तीके मतमें मृत्पिण्ड, कपाल एवं घटादि-रूप-कार्य मृदात्मक होनेसे पिण्डादिकी वर्तमानता ही घटकी भी वर्तमानता होगी। अतः पिण्डावस्थामें पिण्डादि वर्तमान होनेसे घट विद्यमान है इस रूप व्यवहार होगा। इसी प्रकार घटकी अतीतता एवं भविष्यत्ताके द्वारा पिण्ड एवं कपाल अतीत हैं एवं वे भविष्यत हैं इस तरह परस्पर विमिश्रणरूप सांकर्य-दोष आ जायगा। इसके फलस्वरूप मृत्तिका, कपाल एवं घटके व्यवहारमें परस्पर पृथक्-रूप जो उल्लेख किया जाता है वह और नहीं रहेगा एवं सर्वत्र सांकर्य हो जायगा। भाष्यकारके समाधानका उल्लेख पहले भी किया गया है। लेकिन, उन्होंने पुनः इसका समाधान करते हुए कहा है कि यह सभी शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि मृत्तिकाका पिण्ड, कपाल एवं घटादि जितने भी कार्य हैं उनकी एक ही वर्तमानता या भविष्यत्ता-रूप है ऐसी बात नहीं है। इसलिए, सिद्धान्तीके मतमें सभी कार्य मृत्तिका,रूप होनेपर भी सांकर्य-दोषका कोई प्रसंग नहीं है।

२. घटसद्भावे ह्यनुमात्तमवोचाम। विप्रतिषेधाच्च। यदि घटो भविष्यतीति

कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु घटार्थं प्रमाणेन निश्चितम्। येन च कालेन घटस्य सम्बन्धो भविष्यतीत्युच्यते तस्मिन्नेव काले घटोऽसन्निति विप्रतिषिद्धमभिधीयते। भविष्यन्घटोऽसन्निति न भविष्यतीत्यर्थः। अयं घटो न वर्तत इति यद्वत्।

अथ प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्नित्युच्येत घटार्थं प्रवृत्तेषु कुलालादिषु तत्र यथा व्यापाररूपेण वर्तमानास्तावत्कुलालादयस्तथा घटो न वर्तत इत्यसच्छब्दस्यार्थश्चेन्न विरुध्यते। कस्मात्। स्वेन हि भविष्यद्रूपेण घटो वर्तते। न हि पिण्डस्य वर्तमानता कपालस्य वा घटस्य भवति। न च तयोर्भविष्यत्ता घटस्य। तस्मात्कुलामादिव्यापारवर्तमानतायां प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्निति न विरुध्यते। यदि घटस्य यत्स्वं भविष्यत्ता कार्यरूपं तत्प्रतिषिध्यते। तत्प्रतिषेधे विरोधः स्यात्। नतु तद्भवान्प्रतिषेधति। न च सर्वेषां क्रियावतामेकैव वर्तमानता भविष्यत्त्वं वा।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २८-२९

घटस्य प्रागसत्त्वाभावे हेत्वन्तरमाह—विप्रतिषेधादिति। स हि कारकव्यापारदशायामसन्निति कोऽर्थः किं तस्य भविष्यत्त्वादि तदा नास्ति किं वाऽर्थक्रियासामर्थ्यमाद्ये व्याहतिं साधयति—यदीति। घटार्थं कुलालादिषु व्याप्रिययाणेषु सत्सु घटो भविष्यतीति प्रमाणेन निश्चितं चेत्कथं तद्विरुद्धं प्रागसत्त्वमुच्यते। कारकव्यापारावच्छिन्नेव हि कालेन घटस्य भविष्यत्त्वेनातीतत्वेन वा भविष्यत्यभूदिति वा सम्बन्धो विवक्ष्यते। तथा च तस्मिन्नेव काले घटस्य तथाविधसत्त्वनिषेधे व्याहतिरतिव्यक्तेत्यर्थः। तामेवाभिनयति—भविष्यन्निति। यो हि कारकव्यापारदशायां भविष्यत्त्वादिरूपेणास्ति स तदा नास्तीत्युक्ते तस्य तस्यामवस्थायां तेनाऽऽकारेणासत्त्वमर्थो भवति। तथा च घटो यदा येनाऽऽकारेणास्ति स तदा तेनाऽऽकारेण नास्तीति व्याहतिरित्यर्थः।

द्वितीयमुत्थापयति—अथेति। प्रागुत्पत्तेर्घटार्थं कुलालादिषु प्रवृत्तेषु सोऽसन्निश्यसच्छब्दार्थं स्वयमेव विवेचयति—तत्रेत्यादिना। तत्र सिद्धान्ती ब्रूते—न विरुध्यत इति। कथं पुनः सत्कार्यवादिनस्तदसत्त्वमविरुद्धमित्याह—कस्मादिति। प्रागुत्पत्तेस्तुच्छव्यावृत्तिरूपं सत्त्वं घटस्य निषाधयिषितं तच्छेद्भवानपि तस्य सदातनमर्थक्रियासामर्थ्यं निषेधन्ननुमन्यते नाऽऽवयोर्विप्रतिपत्तिरित्यभिप्रेत्याऽऽह—स्वेन हीति। ननु स्वन्म ते सर्वस्य मृन्मात्र-

त्वाविशेषात्पिण्डादेर्वर्तमानता घटस्य स्यात्तस्य चातीतता भविष्यत्ता च पिण्डकपालयोः स्यादिति सांकर्यमाशङ्क्याऽऽह—न हीति । व्यवहारदशायां यथाप्रतिभासमनिर्वाच्यसंस्थानभेदाश्रयणादित्यर्थः । प्रागवस्थायां घटस्यार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वनिषेधे विरोधाभावमुपपादितमुपसंहरति—तस्मादिति । उक्तमेव व्यतिरेकद्वाराविवृणोति— यदित्यादिना । यदाकारकाणि व्याप्रियन्ते तदा घटोऽसन्निति तस्य भविष्यत्त्वादिरूपं तत्काले निषिध्यते चेदुक्तविधया व्याघातः स्यात् । न च तस्य तस्मिन्काले भविष्यत्त्वादिरूपं सत्त्वं निषिध्यते । अर्थक्रियासामर्थ्यस्यैव निषेधात्तन्न विरोधावकाशोऽस्तीत्यर्थः । न हि पिण्डस्येत्यादिना सांकर्यं समाधिरुक्तस्तमिदानीं सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया स्फुटयति—न चेति । भविष्यत्त्वमतीतत्वं चेति शेषः ।

बृ० उ० भा० टी० पृ० २९-३०

सप्तम अध्याय

अग्नि-ब्राह्मण

पूर्वानुवृत्ति

कार्य उत्पत्तिके पूर्व एवं विनाशके अनन्तरमें असत् नहीं हो सकता है इसमें एक और हेतु भाष्यकारने उपस्थापित किया है।[1] इस प्रसंगमें भाष्यकारने जिस अनुमानका प्रयोग किया है उसके दृष्टान्तका ही पहले उन्होंने साधन किया है। न्याय-वैशेषिक-सिद्धान्तमें चार प्रकारके अभावको स्वीकार किया गया है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।[2] इन चार प्रकारके अभावोंमें घटका अन्योन्याभाव घटसे भिन्न है। अन्योन्याभाव भेद-रूप है और यह भेद एक भावभूत वस्तु है। अभावको भाव स्वरूप ही स्वीकार करना पड़ेगा। इस विषयका प्रतिपादन हमलोग आगे (पृष्ठ) में करेंगे।

---

१. अपि च चतुर्विधानामभावनां घटस्येतरेतराभावो घटादन्यो दृष्टो यथा घटाभावः पटादिरेव न घटस्वरूपमेव। न च घटाभावः सन्पटोऽभावात्मकः किं तर्हि भावरूप एव। एवं घटस्य प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावानामपि घटादन्यत्वं स्यात्। घटेन व्यपदिश्यमानत्वाद्घटस्येतरेतराभाववत्। तथैव भावात्मकताऽभावानाम्। एवं च सति घटस्य प्रागभाव इति न घटस्वरूपमेव प्रागुत्पत्तेर्नास्ति। बृ० उ० भा० टी० पृ० ३०

२. उत्पत्तिसे पूर्व वस्तुका जो अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं यथा घटोत्पत्तिके पूर्व घटका अभाव प्रागभाव है। वस्तुके ध्वंस हो जानेपर जो अभाव होता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं, यथा घट ध्वंस हो जानेपर जो उसमें घटका अभाव हो जाता है वही प्रध्वंसाभाव है। दो वस्तुओंमें जो एक दूसरेका परस्पर अभाव है उसे अन्योन्याभाव कहा जाता है, यथा घटमें पटका अभाव और पटमें घटका अभाव अन्योन्याभाव है। त्रिकालबाधित जो अभाव है उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं, यथा वायुमें रंगका अभाव अत्यन्ताभाव है।

इस प्रसंगमें घटके अन्योन्याभावको जो घटसे भिन्न कहा गया है— यह युक्तिके बलसे सिद्ध नहीं है, परन्तु 'घट-पट नहीं है' इस रूप जो अन्योन्याभाव है वह प्रतीति-सिद्ध है। इस प्रातीतिक दृष्टिसे घटके अन्योन्याभावको घटसे भिन्न कहा गया है: इसे युक्ति-सिद्ध स्वीकार क्यों नहीं किया गया है ? इसे आनन्दगिरिने स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करते हुए कहा है कि घटका अन्योन्याभाव घटसे भिन्न है यह कहनेसे 'घट-भेद घटसे भिन्न है' यही समझना चाहिए। दोनों वाक्योंका अर्थ समान है। आशय यह है कि पूर्वोक्त वाक्यके द्वारा 'घट-भेद घट भेदवान् है' यही कहा गया है। घट भेदवान् इस स्थलमें भी 'घटभेद घटसे भिन्न है' और इससे अनवस्थाकी धारा प्रवाहित होगी। इस प्रसंगमें घटके अन्योन्याभावको घटसे अन्य-भिन्न कहा जाना युक्तिबल पर निर्भर नहीं है। परन्तु, 'घट-पट नहीं है' इस प्रकारकी प्रतीतिसे सिद्ध जो अन्यत्व है उसीके ऊपर लक्ष्य कर कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि घटाभावके द्वारा पटादिको ही समझना चाहिए। और, फलतः घटसे पटादि भिन्न होनेके कारण घटके अन्योन्याभावका भी घटसे अन्यत्व-भिन्नत्व सिद्ध होता है।[1]

इसमें प्रश्न होता है कि भाष्यकारका यह कथन कि 'घटाभाव पटादि है' उचित नहीं है। कारण, इस युक्तिमें घट विशेषणरूपमें भासमान होता है और इससे विशेषणीभूत-घट पटादिमें ही अन्तर्भूत हो जायगा।[2]

---

१. घटान्योन्याभावस्य घटादन्यत्वे तत्राप्यन्योन्याभावान्तराङ्गीकारादनवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—दृष्ट इति। न यौक्तिकमन्यत्वं किंतु घटो न भवति पट इति प्रातीतिकं तथाच घटाभावः पटादिरेवेति पटादेस्ततोऽन्यत्वाद्घटान्योन्याभावस्यापि घटादन्यत्वसिद्धिरित्यर्थः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ३०

२. घटाभाव-घट-भेद अगर पट-स्वरूप है यह अगर स्वीकार किया जाय तब तो मात्र भेद ही पटस्वरूप नहीं होगा। घट भी पटस्वरूपमें प्रवृष्ट होगा, कारण प्रतियोगिको छोड़कर अभाव स्वतन्त्ररूपसे पटस्वरूप कैसे होगा ?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि भाष्यकारकी उक्ति 'घटका अन्योन्याभाव घटसे भिन्न-रूपमें दृष्ट होता है 'के द्वारा पूर्वोक्त अनिष्ट-प्रसंगका निवारण किया गया है। भाष्यकारके द्वारा प्रयुक्त 'दृष्ट' पदसे ही यह स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त विषय युक्तिके द्वारा सिद्ध नहीं है, प्रतीति ऐसी होती है। इसी कारण कहा गया है कि 'घटाभाव पटादि-रूप है।'

सिद्धान्तीने और कहा है कि 'घटका अन्योन्याभाव अनुयोगी पटस्वरूप है'—यह स्वीकार नहीं कर अगर यह कहा जाय कि घटका अभाव पटादिका अभाव रूप है' तो भी इस अभावको किसी भी रूपमें स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है। अभाव सर्वथा परतन्त्र है, इसलिए अभाव-निरूपण भावके निरूपणाधीन है। अभावको अगर स्वतन्त्र स्वीकार किया जाय तब तो स्वतन्त्र वस्तुका किसी भी स्थितिमें अभाव नहीं हो सकता है। अभावका स्वातान्त्र्य स्वीकार करनेसे अभावका अभावत्व ही नहीं रहेगा। इसलिए नैयायिक लोग जो घटाभावका पटादिरूपता स्वीकार नहीं कर उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं[1] यह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है।

इस प्रकार घटका अन्योन्याभाव पटादिका धर्मरूप है—यह भी नहीं कहा जा सकता है। इसमें प्रथम दोष यह है कि इन दोनोंमें धर्म-धर्मी-भाव-घटके अन्योन्याभावको धर्म एवं पटको धर्मी स्वीकार करनेसे भेद-स्वीकार करना पड़ेगा। कारण अभेदमें धर्म-धर्मी-भाव नहीं रह सकता है। और भेद स्वीकार करनेसे तो अनवस्था-दोष होता है। भेदका खण्डन अद्वैत-वेदान्तके प्रमुख प्रामाणिक ग्रन्थोंमें विस्तृत-रूपसे प्रदर्शन किया गया है। और बात यह है कि घट-भेद पटमें विद्यमान है इस रूप अगर धर्म-धर्मी भाव स्वीकार किया जाय तब तो पूर्वोक्त वाक्यका अर्थ होगा कि घटत्व पटमें विद्यमान नहीं हैं—घटत्वका संसर्ग पटमें नहीं है और इससे तो अन्योन्याभाव संसर्गाभाव हो जाता है। परन्तु, न्याय-मतमें अन्योन्याभावको संसर्गाभावसे पृथक् स्वीकार किया गया है। घटके अन्योन्याभावको पटादिके धर्मरूपमें स्वीकार करनेसे अन्योन्याभावका अन्योन्याभावत्व ही रक्षित नहीं रहता है—वह संसर्गा-

१. भाष्यकारके अनुसार इस प्रसंगमें न्यायमतमें असत्का अर्थ है अभाव तथा बौद्ध-दर्शनमें असत्का अर्थ है अलीक।

भाव बन जाता है और यह तो न्याय-सिद्धान्तके सर्वथा विरुद्ध है। भूतकालमें घटाभाव जैसे संसर्गाभाव है उसी प्रकार घटमें घटाभाव भी संसर्गाभाव-रूप ही हो जाता है। इस प्रकार घटका अन्योन्याभाव घटका धर्म नहीं हो सकता है अथवा घटका स्वरूप भी नहीं हो सकता है। क्योंकि, घटके अन्योन्याभावको अगर घट हीका धर्म अथवा स्वरूप स्वीकर किया जाय तब तो 'घट घट नहीं है'—इस रूप-प्रयोगकी आपत्ति हो जायगी और यह तो अनुभव-विरुद्ध है। इसलिए भाष्यकारनें कहा है कि घटका अन्योन्याभाव पटादि ही है—वह घट-स्वरूप नहीं है।[१]

इसमें शंका होती है कि अगर प्रतीतिको आश्रयकर घटके अन्योन्याभावके द्वारा पटको ही ग्रहण किया जाय तब तो भावरूपमें सिद्ध पटादिको अभावरूपमें विधान करना पड़ेगा और इससे तो भाव और अभावका व्याघात-दोष स्पष्ट है।

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि पट घटाभावरूप है, इसलिए पट अभावरूप हो जायगा इस प्रकारसे सोचनेका कोई कारण नहीं है। कारण पूर्वोक्त अवस्थामें पट भावरूप ही रह जायगा।

भाष्यकारकी पूर्वोक्त उक्तिका विश्लेषण करते हुए आनन्दगिरिने कहा है कि स्वरूप एवं पररूपके द्वारा समस्त वस्तु ही सद्रूप-भावरूप, एवं असद्रूप-अभावरूप हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि पटादिको अपने रूपके द्वारा भावरूप समझना चाहिए और पटमें घटका तादात्म्य नहीं रहनेके कारण पटको घटका अभावरूप समझना चाहिए। इससे पूर्वोक्त व्याघात-दोष नहीं होगा।

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रतीतिके अनुसार दृष्टान्त उपस्थापनकर भाष्यकारने एक अनुमान प्रदर्शन किया है।

घटका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव एवं अत्यन्ताभाव (पक्ष),
घटसे भिन्न है (साध्य),

१. घटाभावस्य पटादित्वाभावेऽपि न स्वातन्त्र्यमभावत्वविरोधात्। नापि तदन्योन्याभावः पटादेर्धर्मः संसर्गाभावान्तर्भावापातात्। न च स घटस्यैव धर्मः स्वरूपं वा घटो घटो न भवतीतिप्रतीत्यभावादित्यभिप्रत्याऽऽह—न घटस्वरूपमेवेति। बृ० उ० भा० टी० पृ० ३०

कारण, घटके द्वारा उन तीन अभावोंका व्यपदेश-शब्द-प्रयोग होता है (हेतु),

जैसे घटके अन्योन्याभावको घटके द्वारा व्यपदेश किया जाता है (दृष्टान्त) ।

व्यपदेश और व्यपदेशक परस्पर भिन्न हैं। अभेदमें व्यपदेश्य-व्यपदेशक-भाव नहीं रह सकता है। इस अनुमानके द्वारा पूर्वोक्त अभावसमूह घटसे भिन्न होनेके कारण उन सब अभावसमूहका भावरूपत्व स्वीकार करना उचित है जिस प्रकार घटसे भिन्न पटका भावरूपत्व स्वीकार किया जाता है। पूर्वोक्त अनुमानसे यह स्पष्ट होता है कि नैयायिकोंने जो घटोत्पत्तिके पूर्वमें घटके अभावको 'प्रागभाव शब्दसे निर्देश किया है उससे यह सिद्ध नहीं होता हैं कि घटोत्पत्तिके पूर्वमें घट-स्वरूपका ही अभाव है।

इस प्रसंगमें एक सर्वथा मार्मिक प्रश्न यह है कि प्रागभाव प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव अगर घटसे पृथक्-रूपमें सिद्ध हो जाय तब उससे घटका क्या होता है ?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि चारों अभाव अगर घटसे पृथक् हो जाय तब तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव घटकी सत्ताका अपहरण नहीं कर सकते हैं। घटका प्रागभाव अगर घटसे पृथक हो जाय तब तो उत्पत्तिके पूर्वमें घटकी सत्ता अव्याहत रह जायगी, क्योंकि, घटसे भिन्न जो प्रागभाव आदि हैं उनके द्वारा घटका क्या होगा ? घट जैसे है वैसे ही रह जायगा, और इससे घटका प्रागभाव घटसे भिन्न होनेके कारण प्रागभावके द्वारा घटकी सत्ताका अपहरण जब नहीं हो सकेगा, तब तो घटका अनादित्व सिद्ध हो जायगा।

इस प्रकार घटका ध्वंस अगर घटसे पृथक् हो जाय तब उसके द्वारा घटके स्वरूपमें कुछ भी वैलक्षण्य नहीं होगा। घट जिस रूपमें विद्यमान था उसीरूपमें विद्यमान रहेगा। इससे घटकी सत्ताकी कोई हानि नहीं होगी। और इसके फलस्वरूप घट अनन्त-विनाश रहित हो जायगा। इसी तरह घटका अन्योन्याभाव जब घटसे पृथक् है तब घट पटादिसे भिन्न नहीं हो सकेगा और इसके फलस्वरूप घट और परिच्छिन्न

नहीं हो सकेगा। घटके अन्योन्याभावके द्वारा ही घट पटादिसे व्यावृत्त-परिच्छिन्न होता है। इसका फल यही होगा कि घटका सर्वात्मादि सिद्ध हो जायगा, क्योंकि घटका अन्योन्याभाव घटसे भिन्न होनेके कारण घटका और भेद सिद्ध नहीं होगा।

इसी प्रकार घटका अत्यन्ताभाव घटसे पृथक् होनेके कारण घटका अभाव कहीं भी नहीं मिलेगा। इसके द्वारा घटका विभुत्व सिद्ध हो जायगा।

इस भाँति उन चार अभावोंको सद्रूप स्वीकार करनेसे वे चारों अभाव भावरूप हो जायेंगे तथा इसके फलस्वरूप न्यायमतमें स्वीकृत भावाभावके परस्पर सम्बन्धका प्रसंग ही नहीं होगा।[1]

अब प्रश्न होता है कि अभाव तो प्रसिद्ध है। भावकी भाँति ही अभावको भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि इस प्रश्नका उत्थापन ही पूर्वपक्षीके लिए उचित नहीं है, क्योंकि तब तो इस रूप विकल्प आ जायगा कि पूर्वोक्त अभाव क्या घटका स्वरूप है अथवा घटसे विषयान्तर है। इसमें प्रथम विकल्प समीचीन नहीं है, क्योंकि 'घटका प्रागभाव'—इस कथनके द्वारा अगर घटके स्वरूपको ही कहा जाता है तब तो 'घटका' यह जो षष्ठी विभक्ति है इसका प्रयोग अनुत्पन्न हो जायगा। क्योंकि, भेदमें ही षष्ठी विभक्तिका व्यवहार होता है। घटका प्रागभाव अगर घटका स्वरूप ही हो जाय तब 'घटका' इस रूप कहना सर्वथा अनुचित हो जायगा।

---

१. यदि प्रतीतिमाश्रित्य घटान्योन्याभावः पटादिरिष्यते तदा पटादेर्भावस्याभावत्वविधानाद्व्याघात इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। स्वरूपपररूपाभ्यां सर्वं सदसदात्मकमिति हि वृद्धाः। तथा च पटादेः स्वेनाऽऽत्मना भावत्वं घटतादात्म्याभावात्तदभावत्वं चेत्यव्याहतिरित्यर्थः। सिद्धे प्रतीत्यनुसारिणि दृष्टान्ते विवक्षितमनुमानमाह—एवमेति। किं च तेषामभावानां घटभिन्नत्वात्पटवदेव सत्त्वमेष्टव्यमित्यनुमानान्तरमाह—तथेति। अनुमानफलं कथयति—एवं चेति। तेषां घटादन्यत्वे तस्यानाद्यनन्तत्वमद्वयत्वं सर्वात्मत्वं च प्राप्नोति। सत्त्वे च तेषामभावाभावान्न भावाभावयोर्मिथः संगतिरित्यर्थः। बृ० उ० भा० टी० पृ० ३०-३१

इसके उत्तरमें अगर कहा जाय कि प्रागभावादि घटस्वरूप होनेपर भी घट एवं प्रागभाव इन दोनोंमें सम्बन्धको कल्पनाकर 'घटका'—इस रूप व्यवहार होता है जैसे शिलापुत्र एवं उसका शरीर अभिन्न होनेपर भी उसमें भेदकी कल्पना कर 'शिलापुत्रका शरीर' इस प्रकार व्यवहार किया जाता है, तो भी 'घटका प्रागभाव' इस कथनसे 'घट' शब्द द्वारा कल्पित घटका ही अभाव कहा जायगा घटके स्वरूपका अभाव नहीं कहा जायगा। क्योंकि पूर्वोक्त रूपमें अगर घटके साथ प्रागभावके सम्बन्धकी कल्पनाकर व्यवहार किया जाय तब तो सम्बन्धी अभावका भी कल्पित हो जायगा और 'घटका प्रागभाव' इस प्रकारके वाक्य-प्रयोगमें कल्पित अभावका घटके द्वारा व्यपदेश करना पड़ेगा। घटके स्वरूपका ही घटके द्वारा व्यपदेश नहीं हो सकता है।

आशय यह है कि जहाँ सम्बन्धकी कल्पनाकर शब्द-प्रयोग किया जाता है उस स्थलमें वस्तुतः भेद नहीं है, जैसे—राहुका शिर। इस प्रयोगमें यह ध्यान देना उचित है कि राहुसे उसका शिर कोई भिन्न वस्तु नहीं है, तथापि, राहु एवं उसके शिरमें भेद मानकर पूर्वोक्त सम्बन्धकी कल्पना को गयी है। क्योंकि सम्वन्धमात्र ही भेदगर्भ है। परन्तु जहाँ सम्बन्धकी कल्पनाके द्वारा शब्द-व्यवहार किया जाता है वहाँ वास्तवमें भेद नहीं है जैसे—'राहुका शिर'—इस प्रयोगमें देखनेको आता है, इस प्रकार घटका प्रागभाव इस स्थलमें भी सम्बन्ध-कल्पना करनेसे इन दोनोंमें वास्तवमें भेद नहीं हो सकता है। और इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त कल्पित सम्बन्धके एक सम्बन्धीका वास्तवत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इस स्थितिमें अभावरूप सम्बन्धीका वास्तवत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव परतन्त्र है। उसका निरूपण निरन्तर प्रतियोगी-सापेक्ष है। निरपेक्ष-रूपमें जिसकी प्रतीति होती है वही वस्तु है। इसलिए घटका ही वास्तवत्व स्वीकार करना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि पूर्वोक्त स्थलमें कल्पित अभावका घटके द्वारा ही व्यपदेश होता है।

इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी असमीचीन है। द्वितीय विकल्प यही है कि 'घटसे घटाभाव विषयान्तर है।' इसका समाधान पहले ही विस्तृतरूपसे कहा गया है। पूर्वोक्त अनुमानके फलके प्रदर्शन-क्रममें

यह कहा गया है कि घटका अभाव अगर घटसे पृथक् सिद्ध हो जाय तब तो घट अपने कारण मृत्तिका-स्वरूपमें अनादि, अनन्त एवं विभूरूपता लाभ करेगा। निष्कर्ष यह है कि घटका अपने कारण मृत्तिकाके स्वरूपमें ध्रुवत्व सिद्ध हो जायगा।[१]

असत्कार्यवादमें और दोष विद्यमान है। क्योंकि, इसके समर्थक नैयायिकगण कहते हैं कि कार्यका अपने कारणके साथ सम्बन्ध अथवा सत्ताजातिके साथ सम्बन्ध होना ही कार्यकी उत्पत्ति है, परन्तु उत्पत्तिके पूर्वमें तार्किकोंके सिद्धान्तके अनुसार घटादि कार्य खड़हाके सींगके समान असत् है। इस स्थितिमें घटादि कार्यके साथ पूर्वोक्त दो प्रकारका सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि सम्बन्ध तो पृथक्रूपमें विद्यमान दो वस्तुओंके बीच ही होता है। लेकिन यह तो यह सम्भव नहीं है।

इसके उत्तरमें तार्किक लोग कहते हैं कि जो दो वस्तु युतसिद्ध[२] हैं जैसे—रज्जू एवं घट उन दोनोंके परस्पर-सम्बन्धमें रज्जू एवं घटकी

१. ननु प्रसिद्धोऽभावो भाववदशक्योऽपह्नोतुमिति चेत्स तर्हि घटस्य स्वरूपमर्थान्तरं वेति विकल्प्याऽऽद्यमनूद्य दूषयति—अथेत्यादिना। प्रागभावादेर्घटत्वेऽपि संबन्धं कल्पयित्वा घटस्येत्युक्तिरिति शङ्कते—अथेति। संबन्धस्य कल्पितत्वे संबन्धिनोऽप्यभावस्य तथात्वं स्यादिति दूषयति—तथाऽपीति यत्र संबन्धं कल्पयित्वा व्यपदेशस्तत्र न वास्तवो भेदो यथा राहुशिरसोस्तथाऽत्रापि कल्पिते सम्बन्ध 'भेदस्य तथात्वाद्वास्तवत्वं सम्बन्धिनोरन्यतरस्य स्यात्। न चाभावस्तथा सापेक्षत्वादतो घटस्तथेत्यर्थः। कल्पान्तरमनुवदति—अथेति। अनुमानफलं वदद्भिर्घटस्य कारणात्मना ध्रुवत्ववचनेन समाहितचेत्तदित्याह—उक्तोत्तरमिति।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ३१

२. अनित्य स्थलमें सम्बन्धि-द्वय युतसिद्ध है—पृथक् आश्रयायितत्व विद्यमान है, जैसे भूतल एवं घट। भूतल अपने अवयवमें आश्रित है और घट अपने अवयवमें आश्रित है। इस स्थलमें संयोगके सम्बन्धि-द्वय भूतल एवं घट युतसिद्ध हैं। परन्तु, जिस स्थलमें सम्बन्धि-द्वय नित्य है वहाँ सम्बन्धिद्वय अयुतसिद्ध होता है। जैसे दो परमाणुओंके सम्बन्ध-स्थलमें सम्बन्धिद्वय अयुतसिद्ध हैं। 'इस प्रकार आकाश एवं परमाणुके संयोगके स्थलमें

सिद्धि तो पृथक्-पृथक् रूपमें अपेक्षित होती है, परन्तु, अयुतसिद्ध वस्तुकी तो एक दूसरेको छोड़कर प्रतीति ही नहीं हो सकती हैं। इसलिए अयुत-सिद्ध-कार्य-कारणादिकी प्रतीति ही जब एक दूसरेको छोड़कर नहीं होती है तब वैसी स्थितिमें कार्यकारणादि सम्बन्धमें अगर कार्य-कारणादि-रूप दो सम्बन्धीकी पृथक्-पृथक् रूपमें सिद्धि नहीं भी है तब भी उसमें कोई दोष नहीं होता है।

इसके समाधानमें भाष्यकारने कहा है कि भाव एवं अभावमें अयुत-सिद्ध अपृथक्-रूपमें सिद्ध होना ही सम्भव नहीं है। दो भावभूत पदार्थकी ही युत सिद्धता अथवा अयुतसिद्धता हो सकती है। किन्तु भाव एवं अभाव अथवा दोनों अभावकी युतसिद्धता अथवा अयुतसिद्धता सम्भव नहीं है। अतः उपसंहार यह है कि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्य सत् है और बौद्ध एवं नैयायिकोंका सिद्धान्त सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है।[1]

बृहदारण्यक उपनिषद्की उक्ति—"नैवेह किंचनाग्र आसीत्"का अवलम्बनकर भाष्यकार शंकराचार्यने बौद्ध-सम्मत असत्कारणवाद एवं

भी सम्बन्धि-द्वय अयुतसिद्ध हैं, क्योंकि इस स्थलमें अन्यतरमें गति है। परन्तु जहाँ दो नित्य द्रव्यके मध्य किसीमें भी गति नहीं है उस स्थितिमें संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता है' जैसे आकाश एवं काल जहाँ समवाय-सम्बन्ध होता है वहाँ सम्बन्धि-द्वय अयुतिसिद्ध होता है और जहाँ संयोग-सम्बन्ध होता है वहाँ सम्बन्धि-द्वय युतसिद्ध होता है। इस प्रसंगमें 'द्वयोरगतिमत्तम् अन्यतरस्य वा' इस अनुशासनके ऊपर ध्यान देना विशेष आवश्यक है।

१. अथ घटस्य प्रागभाव इति घटस्य यत्स्वरूपं तदेवोच्येत। घटस्येतिव्यपदेशानुपपत्तिः। अथ कल्पयित्वा व्यपदिश्येत शिलापुत्रकस्य शरीरमिति यद्वत्। तथाऽपि घटस्य प्रागभाव इति कल्पितस्यैवाभावस्य घटेन व्यपदेशो न घटस्वरूपस्यैव। अथार्थान्तरं घटाद्घटस्याभाव इत्युक्तोत्तरमेतत्। किंचान्यत्प्रागुत्पत्तेः शशविषाणवदभावभूतस्य घटस्य स्वकारणसत्तासंबन्धानुपपत्तिः। द्विनिष्ठत्वात्सम्बन्धस्य। अयुतसिद्धानामदोष इति चेत्। न। भावाभावयोरयुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। भावभूतयोर्हि युतसिद्धताऽयुतसिद्धता वा स्यान्न तु भावाभावयोरभावयोर्वा तस्मात्सदेव कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति सिद्धम्।
बृ० उ० भा० टी० पृ० ३१

न्यायमतके असत्कार्यवादका विस्तृत-रूपसे खण्डन किया है। उन्होंने अपने स्वाभाविक सूक्ष्म समीक्षणके द्वारा सत्कारणवाद एवं सत्कार्य-वादका प्रतिपादन किया है। जिज्ञासा हो सकती है कि साँख्य[1] आदि दर्शनोंमें भी तो सत्कार्यवादका विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। उससे भाष्यकारके प्रतिपादनका क्या उत्कर्ष है? इसका उत्तर तो स्पष्ट है। सृष्टिके बाद सत्कारणवाद अथवा सत्कार्यवादकी पर्यालोचना तो विभिन्न दर्शन-प्रस्थानोंमें की गयी हैं, परन्तु इस रूप गम्भीर युक्तिको अवतारणाके द्वारा सृष्टिके पूर्वमें पूर्वोक्त विषयकी पर्यालोचना अन्यत्र कहीं भी देखनेमें नहीं आती है। यह भाष्यकारको असाधारण दार्शनिक-प्रतिभाका ज्ञापक है।

पूर्वमें 'नैवेह किंचनाग्र आसीत्' इस बृहदारण्यक-वाक्यके द्वारा उत्पत्तिके पूर्वमें सभी पदार्थोंका असत्वको शकाका प्रदर्शनकर फिर 'मृत्युनैवेदम्' इत्यादि वाक्यका व्याख्यानके प्रसंगमें उक्त शंकाका निरसन किया गया है। सम्प्रति मृत्यु शब्दकी अर्थान्तरमें प्रसिद्धि रहनेके कारण उसके द्वारा जगत्का आवरण सम्भव नहीं है—इस रूप पूर्वपक्षी आक्षेप करते हैं। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि जिस मृत्युके द्वारा आवृत्त कहा गया है उसका स्वरूप क्या है?

इसके उत्तरमें बृहदारण्यकमें कहा गया है कि अशना-भोजन करनेकी इच्छा ही मृत्युका लक्षण है। इसमें भी पुनः प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त अशनायाके द्वारा मृत्यु कैसे लक्षित होती है? क्योंकि जगत्के मूल कारण अशनायादि नहीं हैं। अशनाया एवं पिपासा प्राणमें विद्यमान हैं। अतृप्त पुरुषकी भोगाकांक्षा ही अशनाया है और यही मृत्यु है।[2]

इस विषयको स्पष्ट करते हुए भाष्यकारने कहा है कि जो अशन करनेकी इच्छा करता है वह उस इच्छाके बाद ही प्राणियोंका विनाश करता है, इसलिए 'अशनाया'के द्वारा मृत्यु ही लक्षित होती है। निष्कर्ष यह है कि मूल कारण जो सूत्रावस्था-हिरण्यगर्भावस्था प्राप्त है उसमें

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्
शक्तस्य शक्यकरणात् करणभावाच्च सत्कार्यम्—
(सांख्यकारिका ९)

२. अतृप्त पुरुषकी भोगाकांक्षाके कारण सृष्टि होती है।

सभी पदार्थोंका संहर्तृत्व विद्यमान है और इसलिए मृत्यु नामसे हिरण्यगर्भावस्थाका निर्देश हुआ है। अशनाया बुद्ध्यात्मनका धर्म है और इससे बुद्ध्यावस्था प्राप्त जो हिरण्यगर्भ है वही मृत्यु है।[1]

आनन्दगिरिने इस प्रसंगमें कहा है कि[2] हिरण्यगर्भावस्थामें नामरूप अनभिव्यक्त रहता है। यह नामरूप हिरण्यगर्भावस्थामें अनभिव्यक्त रहनेके कारण प्रत्यक्ष योग्य भी नहीं है। पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ चिदाभास-चैतन्य-सम्बन्धी होनेके कारण वह जड़ जो अपंचीकृत पंचमहाभूत[3] है वह हिरण्यगर्भ नहीं हो सकता है, हिरण्यगर्भ उससे अतिरिक्त है और एतादृश हिरण्यगर्भको ही मृत्यु कहा जाता है। बुद्ध्यावस्था-प्राप्त हिरण्यगर्भ ही मृत्यु है। अतः हिरण्यगर्भ-रूप मृत्युके द्वारा कार्यसमूह आवृत्त था। जैसे पिण्डावस्था प्राप्त मृत्तिकाके द्वारा घट-समूह आवृत होता है वैसे ही हिरण्यगर्भ-रूप मृत्युके द्वारा यह कार्यरूप जगत् आवृत्त था। आशय

१. इस विषयकी विस्तृत पर्यालोचनाके लिए वेदान्त-परिभाषा द्रष्टव्य।

२. अनभिव्यक्तनामरूपमध्यक्षाद्ययोग्यमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतावस्थातिरिक्तं मायारूपं सामासं मृत्युरित्युच्यते। बृ० उ० भा० टी० पृ० ३२

३. वेदान्त-दर्शनमें प्रतिपादित सृष्टि-क्रमका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—उपनिषद्वाक्यसे ज्ञात होता है कि जगत्की तीन अवस्थाएँ हैं—(१) कारणावस्था, (२) सूक्ष्मावस्था और (३) स्थूलावस्था। इनमें कारणावस्थामें किसी पदार्थकी अभिव्यक्ति नहीं थी। सभी पदार्थ सुषुप्तावस्थामें विद्यमान थे। बीजके अभ्यन्तरमें जैसे वृक्ष अव्यक्तावस्थामें विद्यमान रहता है वैसे ही जगत् भी सृष्टिके पूर्वमें अपने कारणमें लीन था। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।७ में कहा गया है कि 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' जिसका आशय है कि यह जगत् उत्पत्तिके पूर्वमें अव्याकृतावस्थामें विद्यमान था। अज्ञान-अविद्या-त्रिगुणात्मिका माया सभीको आवृत्त कर अपने अभ्यन्तरमें जगत्का सूक्ष्म-रूप लेकर विराजमान थी। बाद जीवके कर्मानुसार सूक्ष्मसृष्टि आरम्भ हुई। परमेश्वर त्रिगुणात्मिका मायाका अधिष्ठाता है। परमेश्वरके द्वारा अधिष्ठित मायाके परिणामस्वरूप अपंचीकृत पंचमहाभूतकी उत्पत्ति हुई थी। सूक्ष्मावस्था क्षिति, अप्, तेज, मरुत् एवं व्योम भी अपंचीकृत पंचमहाभूत हैं। अपंचीकृत पंचमहाभूतोंको पंचतन्मात्रा भी कहते हैं। इनकी उत्पत्ति त्रिगुणात्मिका मायासे हुई है, इसलिए ये भी

त्रिगुणात्मक हैं। अपंचीकृत पंचमहाभूतमें हरेकके सात्त्विक भागसे पंच-ज्ञानेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार अपंचीकृत पंचमहाभूतके सम्मिलित सात्त्विक अंशसे मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त इन चार प्रकारके अन्त:करणोंकी उत्पत्ति हुई है। अपंचीकृत पंचमहाभूतके हरेकमें राजसी भागसे पाँच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये पञ्चकर्मेन्द्रिय बहिर्हस्तपदादि नहीं हैं, परन्तु, स्थूल-हस्तपदादिकी सूक्ष्मावस्थायें हैं। इसी तरह अपंचीकृत पंचमहाभूतके मिलित रजोभागसे पंच-प्राण वायुकी सृष्टि हुई है। यह तो है सूक्ष्म-सृष्टिका संक्षिप्त विवरण।

इसके बाद अपंचीकृत पंचमहाभूतके तामसी अंशसे पञ्चीकृत पंचमहाभूत—क्षिति, अप्, तेज, मरुत् एवं व्योम इन पाँच प्रकारके स्थूल-भूतकी उत्पत्ति हुई थी। अपंचीकृत पंचमहाभूत एवं पंचीकृत महाभूतके बीच यही भेद है कि पंचीकृत स्थूल-भूतके हरेकमें अपर चार भूतोंके हरेकका अष्टम अंश विद्यमान है परन्तु अपंचीकृत भूत ऐसे नहीं हैं। उनमें किसी दूसरेका सम्मिश्रण नहीं है। इसलिए पंचीकृत पृथ्वीमें पृथ्वीका अंश अर्ध है एवं जलका अष्टांश, तेजका अष्टांश, वायुका अष्टांश एवं आकाशका अष्टांश है। इसी प्रकार स्थूल पंचीकृत जलमें जल १।२=१।८, पृथ्वी, १।८, तेज, १।८ वायु.+१।८ एवं आकाश। इसी तरह स्थूल तेज, वायु एवं आकाशके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। इन पंचीकृत स्थूलभूतसे ही चतुर्दशभुवन एवं स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज एवं जरायुज ये चतुर्विधि प्राणी या भूत उत्पन्न होते हैं। इसीका नाम है स्थूल-सृष्टि।

पूर्वोक्त स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगतको ही विराट, सूत्र एवं अव्याकृत समष्टि शरीर कहा गया है। इस प्रकार प्रत्येक जीवके भी स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर विद्यमान हैं। जाग्रत्-कालमें स्थूल शरीरका व्यवहार होता है, स्वप्नावस्थामें सूक्ष्म-शरीर, पंचप्राण, दश इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिका व्यवहार होता है एवं सुषुप्तिकालमें इन सबोंकी परम सूक्ष्मावस्था अविद्याको लेकर व्यवहार होता है। यही जीवका कारण शरीर है। यही है आध्यात्मिक क्षुद्र-जगत्, क्षुद्र-ब्रह्माण्ड एवं व्यष्टि शरीर। व्यष्टि-रूपमें जैसे क्षुद्र-शरीर तीन प्रकारके हैं वैसे ही समष्टि-शरीर भी तीन प्रकारके हैं। इसलिए कहा गया है कि देह-रूप पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड, लिंग-शरीर एवं सूत्रात्मक सूक्ष्म-जगत्, सुषुप्तिके द्वारा उपलक्षित कारण-शरीर

यह है कि उत्पत्तिके पूर्व हिरण्यगर्भावस्थामें नाम, रूप अव्याकृतावस्थामें विद्यमान था और इसी स्थितिको ध्यानमें रखकर कहा गया है कि सूत्रात्मा हिरण्यगर्भरूप मृत्युके द्वारा कार्य-समूह उत्पत्तिके पूर्वमें आवृत था।[1]

इसके बाद कहा गया है कि पूर्वोक्त मृत्युवक्ष्यमाणकार्य-समूहोंको सृष्टि एवं जगत्की अव्याकृतावस्था, एवं जीव और परमात्मामें ऐक्य विद्यमान है। इन सबोंमें कोई भेद नहीं है।

पूर्वोक्त उभय प्रकारमें विद्यमान तीनों प्रकारके शरीरमें आत्मा विद्यमान है। इस स्थूल-शरीरमें जो चैतन्य-व्यवहार करते हैं उन्हें विश्व कहते हैं। सूक्ष्म-शरीरमें जो चैतन्य-व्यवहार करते हैं उसे तेजस कहा जाता है। और, कारण शरीरमें जो चैतन्य-व्यवहार करते हैं उसका नाम है प्रज्ञा। एक ही अखण्ड-चैतन्य भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न-रूपमें प्रतीत होता है। इसी तरह समष्टि-शरीरका भी पंचीकृत स्थूल, विराट्, जगत्रूप शरीरका अधिष्ठाता एक चैतन्य विद्यमान है जिसे वैश्वानर-विराट् कहा जाता है। अपंचीकृत महाभूत एवं उसका कार्य स्वरूप सूक्ष्म-जगत्-रूप शरीरका अधिष्ठाता एक चैतन्य है—जिसे सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ-प्राण शब्दसे निर्देश किया जाता है। अव्याकृत-कारण-जगत्-रूप शरीरका भी एक अधिष्ठाता चैतन्य है—जिसे अन्तर्यामी या परमेश्वर कहा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि व्यष्टि-रूपमें विश्व, तेजस् एवं प्रज्ञा और समष्टि-रूपमें वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर—ये एक ही चैतन्यकी विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। इन सबोंके मूलमें निर्विशेष, अखण्ड, सच्चिदानन्द, तुरीय, शुद्ध, चैतन्यात्मक ब्रह्म अधिष्ठानरूपमें विद्यमान हैं और इसलिए श्रुतिमें कहा गया है कि 'ब्रह्म पुच्छम् प्रतिष्ठा।'

१. किं लक्षणेन मृत्युनाऽऽवृतमित्यत आह—अशनाययाऽशितुमिच्छाऽशनाया सैव मृत्योर्लक्षणं तया लक्षितेन मृत्युनाऽशनायया। कथमशनाया मृत्युरिति। उच्यते—अशनाया हि मृत्युः। हि शब्देन प्रसिद्धं हेतुमवद्योतयति। यो ह्यशितुमिच्छति सोऽशनायानन्तमेव हन्ति जन्तून्। तेनासावशनाया लक्ष्यते मृत्युरित्यशनाया हीत्याह। बुद्धयात्मनोऽशनाया धर्म इति स एष बुद्धयवस्थो हिरण्यगर्भो मृत्युरित्युच्यते। तेन मृत्युनेदं कार्यमावृतमासीत्।
बृ० उ० भा० टी० पृ० ३१-३२

करनेकी इच्छासे उसने कार्य-स्वरूपके पर्यालोचनमें सक्षम अन्तःकरणका उत्पादन किया था। वह अन्तःकरण मन शब्दके वाच्यार्थ-रूपमें प्रसिद्ध है और संकल्पादि उसका लक्षण है।

इसमें शंका होती है कि पंचभूतकी सृष्टिको अतिक्रमकर भूतके विकार-मनकी सृष्टि पहले कहना तो उचित नहीं है।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि अपंचीकृतभूत-समूह हिरण्यगर्भके शरीररूपमें अवस्थान करता है। वह अपंचीकृत-भूतसमूह तो पंचीकृत होनेके पूर्व ही विद्यमान है और उससे मनकी अभिव्यक्ति कहना तो विरुद्ध नहीं है।

प्रश्न होता है कि किस अभिप्रायसे हिरण्यगर्भने संकल्पलक्षण मनका निर्माण किया था। इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'मैं इस मनके द्वारा मनस्वी मनयुक्त-बनूँगा' 'इस अभिप्रायसे ही हिरण्यगर्भ-प्रजापतिने मनका निर्माण किया था। वह प्रजापति इस अभिव्यक्त मनके द्वारा समनस्क होकर 'मैं कृतार्थ हूँ' इस रूपसे अपनेको ही अर्चित किया। वे इस रूप पूजा करके विचरण करते रहे। वह प्रजापति जब पूजा कर रहे थे उस स्थितिमें अप्-रसात्मक-जलसमूह उत्पन्न हुआ। जल पूजाका अंगभूत है।

यहाँ एक शंका होती है कि तैत्तिरीय शाखामें कहा गया है कि पहले आकाश, इसके बाद वायु, फिर तेज उत्पन्न हुआ था, परन्तु यहाँ तो पहले ही जलको सृष्टिके विषयमें कहा गया है, अतः इसमें तो विरोध स्पष्ट है। इसके समाधानमें भाष्यकारने कहा है कि वर्तमान प्रसंगमें हिरण्यगर्भ जिस सृष्टिका कर्त्ता है उसमें जलकी उत्पत्ति पंचीकृत आकाश, वायु एवं तेजकी उत्पत्तिके बाद हुई थी। इसलिए इस प्रसंगमें आकाशादि सृष्टिके बाद अप्‌की सृष्टि समझना चाहिए।

इसमें पुनः प्रश्न होता है कि तैत्तिरीय शाखामें आकाशादि सृष्टिका पहले होना कहा गया है। फिर दोनों तो वेदोक्ति ही हैं—इसलिए यहाँ विकल्प स्वीकार करना उचित है। तैत्तिरीय श्रुतिमें एक स्थलमें कहा गया है कि सूर्योदयके बाद होम करना है, फिर दूसरे स्थलमें कहा गया है कि सूर्यके अनुदयमें होम करना है—इस परस्पर-विरुद्ध वेद-वाक्य-

द्वयके विरोधको परिहार करनेके लिए जैसे विकल्पका आश्रयण किया जाता है—चाहे उदित हो अथवा चाहे अनुदित हो। इन दोनोंमें किसी एकमें होमका विधान किया गया है। मनु-स्मृतिका भी यही निर्देश है।[1]

इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि इस प्रकार यहाँ विकल्पका आश्रय लेना अनुचित है, क्योंकि पूर्वोक्त उदित, एवं अनुदित होम क्रिया-रूप है और क्रिया पुरुषके अधीन है। इसलिए तो इसमें विकल्प किया जा सकता है। परन्तु सृष्टिका क्रम तो सिद्ध-वस्तु है और वह पुरुषके अधीन नहीं है, इसलिए उसमें विकल्प नहीं हो सकता है। सृष्टिका क्रम अगर विवक्षित हो जाय तब तो आकाशादि-क्रमसे ही सृष्टि स्वीकार करना पड़ेगा। लेकिन, जीव और ब्रह्मके ऐक्य-विषयिणी-ब्रह्मविद्याके प्रतिपादन करनेके लिए उपनिषद्में सृष्टि-प्रक्रियाका वर्णन किया गया है अन्यथा सृष्टिक्रमका वर्णन उपनिषत्का तात्पर्य नहीं है। ब्रह्म जीवके ऐक्य-विषयिणी-ब्रह्मविद्या प्रतिपादन अध्यारोपापवाद[2] द्वारा विशेष-रूपसे ब्रह्म-सूत्रादिमें प्रदर्शन किया गया है। अतएव यह समझना चाहिए कि

१. श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥ १४॥
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥ १५॥
मनु०—२।१४,१५

२. अध्यारोपापवादन्यायके द्वारा ही वेदान्तमें सृष्टि तत्त्व एवं ब्रह्म तत्त्व प्रतिपादित हुआ है। अध्यारोपापवादमें दो शब्द हैं—अध्यारोप+अपवाद। अध्यारोपसे यही समझना चाहिए कि जो जिसका स्वरूप नहीं है उसको उसी स्वरूपसे अवगत होना। अतः अध्यारोप शब्दका अर्थ है कल्पना या भ्रम और अपवाद शब्दसे उसका निषेध अथवा असत्ता प्रतिपादन करना। दार्शनिकोंने एक नियम स्वीकार कर लिया है कि 'नान्यत्रकारणात्कार्यम् न चेत् तत्र क्वतद्भवेत्।' इसका आशय यह है कि कार्य अपने कारणको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी अवस्थान नहीं कर सकता है। अगर वह अपने कारणमें विद्यमान नहीं रहे तब तो और किसी भी अधिकरणमें उसकी स्थिति सम्भव नहीं है। जब परिस्थिति इस प्रकारको है तब तो एक,

अद्वितीय, सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद शून्य निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेके लिए जगत्को मिथ्या प्रतिपादन करना पड़ेगा। यही प्रदर्शन करना पड़ेगा कि जगत् सत्य नहीं है एवं परमार्थतः जगत्-स्वरूपसे ही विद्यमान नहीं है। रज्जुमें आरोपित सर्प जैसे रज्जूमें विद्यमान रहता है—रज्जू ही भ्रम ज्ञानमें भासमान सर्पका कारण है। इस स्थितिमें अगर वह रज्जूमें नहीं रहे तब तो उसकी सत्ता और कहीं भी सम्भव नहीं होगी। वस्तुतः रज्जूमें जो सर्प-भ्रम होता है उस भ्रममें भासमान पूर्वोक्त सर्प जब रज्जूमें न तो पूर्वकालमें विद्यमान था और न बादमें ही विद्यमान था तब तो मध्यावस्थामें वह जो प्रतीयमान होता है उसको अविद्याका विलास छोड़कर और क्या कहा जा सकता है? लेकिन पूर्वोक्त युक्तिके अवलम्बनसे यह प्रतीत होता है कि आरोपित वस्तुकी प्रातीतिक-सत्ता छोड़कर और कोई सत्ता विद्यमान नहीं है। तब वैसी स्थितिमें प्रतीति कालमें भी जो वह विद्यमान है ऐसी बात नहीं है। परन्तु, वह विद्यमान है—इस रूप प्रतीति तो होती है। इस प्रकारकी प्रतीति-ही अविद्या है। इसी भाँति यह जगत् सत्य नहीं है, क्योंकि यह जगत् निरन्तर परिणाम प्राप्त हो रहा है। फिर यह जगत् असत् है—यह बात भी नहीं है, क्योंकि यह जगत् प्रतीयमान होता है। यह जगत् सत् एवं असत् कोटिसे बहिर्भूत होकर अनिर्वचनीय है। इस प्रसंगमें यह समझना चाहिए कि मिथ्या एवं असत् एक वस्तु नहीं है। असत्का लक्षण—किसी भी अधिकरणमें सत्-रूपमें प्रतीत होनेकी योग्यता जिसमें नहीं है—वही असत् है। 'क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन प्रतित्या अनर्हम्। मिथ्याका लक्षण—जो जहाँ नहीं है किन्तु वहाँ प्रतीयमान होती है—वही मिथ्या है। जिसकी प्रतीति ही सम्भव नहीं है वही असत् है। जैसे रज्जू-सर्प, शुक्ति-रजत, स्वप्न-दृश्य प्रभृति मिथ्या है और बन्ध्यापुत्र, आकाश-कुसुम-प्रभृति असत् है। कभी-कभी मिथ्या अर्थमें भी असत् शब्दका प्रयोग होता है। यह जगत् मिथ्या है—इसका मिथ्यात्व दृश्यत्व, जड़त्व, चिद्भिन्नत्व प्रभृति हेतुओंके द्वारा प्रमाणित किया जाता है। और यह जब मिथ्या है तब यह अपने कारणमें प्रतीयमान होनेपर भी यथार्थतः यह न तो पूर्वमें, न बादमें और न तत्कालमें ही विद्यमान है। जगत् रज्जूमें सर्पादिके सदृश ब्रह्ममें कल्पित है। इस प्रकार अपवादको अवलम्बन करके ब्रह्म निःप्रपंच है—प्रपंचके साथ ब्रह्मका कोई भी सम्बन्ध नहीं है—यही प्रमाणित होता है।

ब्रह्म-जीवका ऐक्य-प्रदर्शन करनेके लिए ही सृष्टि-प्रक्रियाका वर्णन किया गया है। यह आकाशादि मिथ्या वस्तु है और उसकी उत्पत्तिमें क्रम-पर्यालोचन करना उपनिषद्की दृष्टिसे एक सर्वथा उपेक्षाका विषय है।[1]

अश्वमेधिक अग्निके अर्क नामको सिद्ध करानेके लिए ही इस प्रसंगमें अप्की सृष्टिका वर्णन किया गया है। यहाँ कहा गया है कि 'अर्चना करनेके समयमें हमसे उदक-जल उत्पन्न हुआ था' इस रूपसे हिरण्यगर्भने अभिमान किया था। इसलिए अर्चनाके समयमें उत्पन्न उदकसे ही अश्वमेध-क्रतुका उपयोगी अग्नि उत्पन्न होनेके कारण उस अग्निका नाम अर्क हुआ था। अश्वमेध-क्रतुमें उपयोगी अग्निके अर्क-नामके निर्वचनका प्रयोजन है उपासना। अर्चनाके समय जलकी उत्पत्ति होनेके कारण जलका नाम अर्क हुआ था और इस जलके साथ अग्निका सम्बन्ध रहनेके कारण अग्निका भी गौण नाम अर्क है।

इस प्रसंगमें ध्यान देनेका विषय यह है कि अर्क एवं अर्चति[2] पदका अवयव अर्क शब्द है, इन दोनोंमें संगति है। इस प्रसंगमें पहले ही कहा गया है कि अर्क नाम-धेय अग्निकी उपासना प्रदर्शन करनेके लिए ही अर्कनामका निर्वचन प्रदर्शन किया गया है। बृहदारण्यकमें स्पष्ट कहा गया है कि जो अर्कका पूर्वोक्त निर्वचन जानता है उसे क-जल अथवा

१. यथापिण्डावस्थया मृदा घटादय आवृताः स्युरिति तद्वत्। तन्मनोऽकुरुत। तदिति मनसो निर्देशः। स प्रकृतो मृत्युर्वक्ष्यमानकार्यसिसृक्षया तत्कार्यालोचनक्षमं मनः शब्दवाच्यं संकल्पादिलक्षणमन्तः करणमकुरुत कृतवान्। केनाभिप्रायेण मनोऽकरोदिति। उच्यते— आत्मन्व्यात्मवान्स्यां भवेयम्। अहमनेनाऽऽत्मना मनसा मनस्वी स्यामित्यभिप्रायः।

स प्रजापतिरभिव्यक्तेन मनसा समनस्कः सन्नर्चन्नर्चयत्पूजयन्नात्मानमेव कृतार्थोऽस्मीत्यचरच्चरणमकरोत्। तस्य प्रजापतेरर्चतः पूजयत आपो रसात्मिकाः पूजाङ्गभूता अजायन्तोत्पन्नाः। अत्राऽऽकाशप्रभृतीनां त्रयाणामुत्पत्त्यनन्तरमिति वक्तव्य श्रुत्यन्तरसामर्थ्याद्विकल्पासंभवाच्च सृष्टिक्रमस्य।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ३२

२. अर्च धातुसे ही अर्क शब्द बनता है।

सुख मिलता है। इस वेदन प्रसंसाके द्वारा उपासनाका प्रतिपादन किया गया है।[1] अब निष्कर्ष यह है कि मृत्यु-हिरण्यगर्भ अर्कनामधेय अग्नि है। इस प्रसंगमें अर्कनाम 'अग्निकी स्तुति प्रदर्शन करना ही तात्पर्य है, जलकी स्तुति प्रदर्शन करना यहाँ अपेक्षित नहीं है।[2]

शंका होती है कि अप्‌का अर्कत्व वेदमें कहा गया है और इसलिए अग्निका अर्कत्व तो नहीं होना चाहिए। इसके उत्तरमे भाष्यकारने कहा है कि प्रकरण को आश्रयकर जल-समूहमें अर्कत्व कहा गया है। वस्तुतः अर्क अग्नि है। अर्कको अप् कहनेका कारण यह है कि अप् अर्करूप अग्नि का उत्पादक हैं। इसलिए जनक अप्‌को अर्क कहा जाना औपचारिक है। अप्-समूहके अभ्यन्तरमें हिरण्यमय अण्ड उत्पन्न हुआ था यह श्रुतिमें कहा गया है। हिरण्यके द्वारा ही अप्‌में अग्निकी प्रतिष्ठा सूचितकी गयी है। इस प्रकार अप्‌में 'अर्क' शब्दका प्रयोग औपचारिक है।

भाष्यकारने इसका औचित्य प्रदर्शन किया है। अप् अग्निका जनक है-इस विषयमें श्रुतिमें कहा गया है कि अप्‌में अग्नि प्रतिष्ठित है। किन्तु अपको साक्षात् रूपसे अर्क नहीं कहा गया है, क्योंकि अप्‌का अग्नित्व प्रतिपादन करनेके लिए यह प्रकरण ही नहीं है। अश्वमेधिक अग्निका उपासना सिद्ध करानेके लिए उसका अर्क नाम कैसे निर्देश किया गया है—इसका विवरण दिया गया है। बृहदारण्यकमें कहा गया है कि यह अग्नि ही अर्क है। निष्कर्ष यह है कि अप्‌का अर्कत्व मुख्य नहीं है, वह गौण है।

---

१. बृ० उ० १।२।१

२. अर्चते पूजां कुर्वते वै मे मह्यं कमुदकमभूदित्येवममन्यत यस्मान्मृत्युस्तदेव तस्मादेव हेतोरर्कस्याग्नेरश्वमेधक्रतूपयोगिकस्यार्कत्वमर्कत्वे हेतुरित्यर्थः। अग्नेरर्कनामनिर्वचनमेतत्। अर्चनात्सुखहेतुपूजाकरणादप्संबन्धाच्चाग्नेरेतद्गौणं नामार्क इति। य एवं यथोक्तमर्कस्यार्कत्वं वेद जानाति। कमुदकं सुखं वा नामसामान्यात्। ह वा इत्यवधारणार्थो भवत्येवेति। अस्मा एवंविद एवंविदर्थं भवति ॥ १ ॥

बृ० उ० भा० टी० पृ० ३२-३३

प्रश्न होता है कि मीमांसाके तृतीय अध्यायमें तृतीय पादके चतुर्दश सूत्रमें कहा गया है कि श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण स्थान एवं समाख्या- इन सबके बीचमें परवर्त्ती-समूह पूर्ववर्त्ती समूहकी अपेक्षा दुर्बल है। क्योंकि, परवर्त्ती-समूहका विनियोजकतारूप अर्थ प्रतीत होनेमें पूर्व समूहकी अपेक्षा विप्रकर्ष-विलम्ब होता है। क्योंकि, पूर्ववर्त्ती समूहपर निर्भर कर परवर्त्ती समूह अपने अर्थका ज्ञापक होता है। इसलिए इन सबमें पूर्ववर्त्ती समूह शीघ्र उपस्थित होनेके कारण प्रबल है। परवर्त्ती-समूह विलम्बमें उपस्थित होनेके कारण दुर्बल है। अतः पूर्वोक्त न्यायके अनुसार बृहदारण्यकका 'आपो वा अर्कः' यह वाक्य-प्रकरणकी अपेक्षा बलवान है और इसलिए' अप्का ही मुख्य अर्कत्व होना चाहिए। इस प्रसंगमें यह कथन कि 'प्रकरणको आश्रय कर अप् समूहका अर्कत्व औपचारिक समझना चाहिए 'असमीचीन है। प्रकरणको आश्रय कर अग्निका अर्कत्व मुख्य एवं जलका अर्कत्व गौण स्वीकार करना तो मीमांसा अनुशासनके विरुद्ध है।

इसके उत्तरमें भाष्यकारने इस श्रुति-'अयमग्निरर्कः'का उल्लेख किया है। इसलिए इस प्रसंगमें अग्निको ही ग्रहण करना चाहिए।

यह पहले कहा जा चुका है भूतान्तरके साथ विद्यमान जल समूह कारण रूप है और उसमें पृथ्वीके द्वारा पार्थिव, अग्नि प्रतिष्ठित है। अब पृथ्वीकी सृष्टि पूर्वोक्त जल-समूहसे हुई है इसके प्रतिपादनमें कहा गया है कि भूतान्तरके साथ उत्पन्न जल-समूहमें दधिके भण्डके सदृश शरभाग संघातरूपता प्राप्त होकर पृथ्वी थी। आशय यह है कि पूर्वोक्त जल-समूहसे एक अण्ड निष्पन्न हुआ था। इस प्रसंगमें स्थूल प्रपञ्चात्मक विराट्की उत्पत्ति सूक्ष्म प्रपञ्चात्मक सूत्र-हिरण्यगर्भसे हो हुई थी। जलसे पृथ्वी उत्पादन करनेके बाद वह हिरण्यगर्भ प्रजापति श्रमयुक्त हो गये थे। आज भी सभी लोग कार्यकर श्रमयुक्त होते हैं। पृथ्वीकी सृष्टि तो हिरण्यगर्भ प्रजापतिका महान् कार्य है। श्रान्त होनेके बाद संतप्त एवं खिन्न प्रजापतिसे तेजोरस तेजः सार निष्क्रान्त हुआ और वह तेजोरस अग्नि है। वह अग्नि पूर्वोक्त अण्डके अभ्यन्तरमें विराट् प्रजापतिरूपमें उत्पन्न हुआ था। हिरण्यगर्भ प्रजापति अण्डके बाह्य देशमें एवं विराट् प्रजापति उसके मध्यमें विद्यमान हैं। पूर्वोक्त

सृष्टिका क्रम इस रूप है: —(१) मन,[१] (२) आकाश (३) वायु (४) तेज, (५) अप्। अप्से तीनकी उत्पत्ति हुई थी–(क) अर्कनाम अग्नि, (ख) जलके शरभागसे पृथ्वी और (ग) अण्ड।

यह विराट् प्रजापति शरीर एवं इन्द्रिय समुदायात्मकोंमें प्रथम है। वह सभी शारीरियोंमें प्रथम शरीरी है।[२] इसके बाद विराट्-स्वरूपकी उपासनाके लिए विराट्-सम्बन्धमें विशेष-रूपसे विवरण देते हुए कहा गया है कि—वह विराट् प्रजापति उत्पन्न होकर कार्य-कारण शरीर इन्द्रिय संघातरूप अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया था। आदित्य, वायु एवं अग्नि इन तीनों रूपमें तृत्व संख्या पूरणका सामर्थ्य है। अग्नि एवं वायुकी अपेक्षा आदित्य तृतीय है, अग्नि और आदित्यकी अपेक्षा वायु तृतीय है एवं वायु एवं आदित्यकी अपेक्षा अग्नि तृतीय है। जैसे एक मृत्तिकाका घट एवं शराबादि अनेक रूप परिदृष्ट होता है वैसे ही विराट् प्रजापतिका भी बहुरूपत्व प्रतिपादन किया गया है।[३]

इस प्रसंगमें एक शंका उठायी गयी है कि 'अग्नि तृतीयको विराट् प्रजापति उत्पादन किये थे यह मूल अंश तो बृहदारण्यक उपनिषद्में नहीं है। इसलिए इस प्रकारकी अश्रुत कल्पना कैसे समीचीन हो सकती है?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि वायु एवं आदित्यके सदृश अग्निको भी तृत्व संख्या पूरणका सामर्थ्य समान है।[४] इसलिए 'अग्नि तृतीयम्

१. सृष्टि-प्रक्रियामें मनकी उत्पत्ति पहले है। इस मनको अगर बुद्धि-रूपसे ग्रहण किया जाय तब तो बुद्धि आत्मा हिरण्यगर्भ ही वह है—यही निष्कर्ष होगा। सांख्य-दर्शनकी सृष्टिके क्रमानुसार महत्तत्त्व प्रकृतिका प्रथम परिणाम है—वह बुद्धि-तत्त्व है। अतः सांख्यके महत्के साथ आंशिक समानता है।

२. शि० पु० ५।१।८।२२

३. विराजो ध्यानार्थमवच्छेदभेदमाह—स चेति। कोऽस्य त्रेधाभा त्रेधाभावस्य कर्तेति वीक्षायामाह—स्वयमेवेति। कथमेकस्य त्रिधात्वमन्यथा कथमेकत्वमित्याह–कथमिति–मृदो घटशरावाद्यनेकरूपत्ववद्विराजो बहुरूपत्वं साधयति–आहेत्यादिना। बृ० उ० भा० टी० पृ० ३५

४. आपो वा अर्कः। कः पुनरसावर्क इति। उच्यते—आपो वा या अर्चनाङ्ग-

अकुरुत' इस रूपसे अधिक परिसंख्यान किया गया है। और बात यह है कि बृहदारण्यकके प्रारम्भमें ही कहा गया है कि 'सत्रेधा आत्मां व्यकुरुत'। इसलिए उपक्रम एवं उपसंहारकी मर्यादा पालन करनेकी दृष्टिसे 'अग्नि तृतीयम्' इस रूप भाष्यकारकी कल्पना समीचीन है।[1]

भूतास्या एवार्कोऽग्नेरर्कस्य हेतुत्वात्। अप्सुचाग्निः प्रतिष्ठित इति। न पुनः साक्षादेवार्कस्ताः। तासामप्रकरणात्। अग्नेश्च प्रकरणम्। वक्ष्यति चायमग्निरर्क इति। तत्तत्र यदपां शर इव शरो दध्न इव मण्डभूतमासीत्तत्समहन्यत संघातमापद्यत तेजसा वाह्यान्तः पच्यमानं लिङ्गव्यत्ययेन वा योऽपां शरः स समहन्यतेति सा पृथिव्यभवत्स संघातो येयं पृथिवी साऽभवत्। ताभ्योऽद्भ्योऽण्डमभिनिर्वृत्तमित्यर्थः। तस्यां पृथिव्यामुत्पादितायां स मृत्युः प्रजापतिरश्राम्यच्छ्रमयुक्तो बभूव। सर्वो हि लोकः कार्यं कृत्वा श्राम्यति। प्रजापतेश्च तन्महत्कार्यं यत्पृथवीसर्गः। किं तस्य श्रान्तस्येत्युच्यते—तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य खिन्नस्य तेजोरसस्तेज एव रसस्तेजोरसो रसः सारो निर्वर्तत प्रजापतिशरीरान्निष्क्रान्तः इत्यर्थः। कोऽसौ निष्क्रान्तोऽग्निः साऽण्डस्यान्तर्विराट्प्रजापतिः प्रथमजः कार्यकरणसंघातवाञ्जातः। 'स वै शरीरी प्रथमः इति स्मरणात् ॥ २ ॥

स च जातः प्रजापतिस्त्रेधा त्रिप्रकारमात्मानं स्वयमेव कार्यकरणसंघातं व्यकुरुत व्यभजदित्येतत्। कथं त्रेधेत्याह—आदित्यं तृतीयायमग्निवाय्वपेक्षया त्रयाणां पूरणमकुरुतेत्यनुवर्तते। तथाऽग्न्यादित्यापेक्षया वायुं—तृतीयम्। तथा वाय्वादित्यापेक्षयाऽग्निं तृतीयमिति द्रष्टव्यम्। सामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्त्रयाणां संख्यापूरणत्वे।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ३३-३५

१. विराट् प्रजापति अण्डके अभ्यन्तरमें विद्यमान थे, इसलिए वहाँ जो आदित्य, वायु एवं अग्निका उत्पादन किये इसमें किसी एकको तीसरा कहा जा सकता है।

अष्टम अध्याय

मैत्रेयी-ब्राह्मण

पातनिका

इस अध्यायमें हमलोग बृहदारण्यक उपनिषद्में आमनात मैत्रेयी-ब्राह्मणके निगूढ़ रहस्यका उद्घाटन करेंगे। मैत्रेयी-ब्राह्मण बृहदारण्यक उपनिषद्का सर्वस्व-सारभूत है। केवल बृहदारण्यक उपनिषद् ही क्यों, सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक चिन्तनका ही मूल स्रोत यह मैत्रेयी-ब्राह्मण है। इस ब्राह्मणका आशय, शांकरभाष्य, भामती, कल्पतरु, परिमल, पंचपादिका, विवरणप्रभृति अद्वैत वेदान्तदर्शनके मूर्द्धन्यभूत ग्रन्थोंमें विस्तृतरूपसे प्रतिपादन किया गया है। मैत्रेयी-ब्राह्मणके पूर्व-भागका बृहदारण्यक उपनिषद्के प्रतिपाद्य विषयका एक अतिशय संक्षिप्त विवरण भाष्यकारने दिया है—जिससे मैत्रेयी-ब्राह्मणका सम्बन्ध बृहदा-रण्यक उपनिषद्के पूर्ववर्त्ती अंशके साथ स्पष्ट प्रतीत हो जाय। मैत्रेयी-ब्राह्मण बृहदारण्यकके द्वितीय अध्यायका चतुर्थ ब्राह्मणमें कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि केवल आत्माकी ही उपासना करनी चाहिए।[१]

इसमें प्रश्न होता है कि क्या आत्माकी ही उपासनामें यत्न करनी चाहिए आत्म-भिन्न विषयके ज्ञानमें नहीं ?

इसके उत्तरमें बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि आत्म-तत्त्व

१. आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं—वेद। बृ० उ० १।४।७

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्-मा..........आत्मानमेव प्रियमुपासीत। बृ० उ० १।४।८

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मा-त्तत्सर्वमभवत्। बृ० उ० १।४।१०

हो सभी प्राणियोंका गमनीय है। क्योंकि, आत्माको छोड़ और जो अनात्म-वस्तु है उसका ज्ञान भी आत्मज्ञानसे ही होता है।

प्रश्न होता हैं कि कैसे यह आत्म-तत्त्व गमनीय हो सकता है ?

इसके उत्तरमें बृहदारण्यकमें कहा है कि जिस प्रकार खुर आदिके चिह्नोंके द्वारा खोये हुए गाय-प्रभृति पशुओंको प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानकी प्राप्तिके द्वारा सभी वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। आशय यह है कि आत्मज्ञानके द्वारा सभी अनात्म-वस्तुका ज्ञान होता है। इसलिए यह आत्म-तत्त्व गमनीय है।

इसमें और कहा गया है कि मात्र आत्म-तत्त्व ही ज्ञेय है क्योंकि, यह आत्म-तत्त्व पुत्रसे प्रियतर है। लोकमें पुत्र प्रिय है, लेकिन पुत्रसे भी आत्म-तत्त्व प्रियतर होनेके कारण यह सर्वाधिक प्रिय है। इस तरह वित्त हिरण्यादि, स्वामी, जाया आदि लोक प्रसिद्ध वस्तुओंसे भी आत्म-तत्त्व प्रिय है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्में जो आत्मज्ञानको मुक्तिका साधन तथा मुक्तिको साध्य कहा गया हैं, इसरूप साध्य-साधन-सम्बन्ध एवं मुक्तिरूप फलको बृहदारण्कक उपनिषद् (१।४।१०) वाक्यके द्वारा फिर कहा गया है। इसमें कहा गया है कि यह ब्रह्म आत्माको ही जाना किस 'मैं ब्रह्म हूँ'। इसी विज्ञानके द्वारा ब्रह्मने सर्वरूपता प्राप्त किया। इस प्रकार यह बात दिखाई गई है कि प्रत्यगात्मा ही ब्रह्मविद्याका विषय है।

बृहदारण्यकमें अविद्याके विषयमें कहा गया है कि जो अब्रह्मविद् आत्मा-ब्रह्मसे-व्यतिरिक्त देवताकी उपासना करता है और मनमें यह भाव रखता है कि 'वह अनात्मभूता देवता मुझसे पृथक् है तथा मैं उपासनाका अधिकारी इससे भिन्न हूँ 'मुझे ऋणीके समान इसके उपकारका बदला चुकाना चाहिए 'ऐसे भावसे युक्त होकर उपासना करनेवाला पुरुष उस तत्त्वको नहीं जानता। वह अज्ञानी केवल अविद्या दोषवान् ही नहीं है प्रत्युत वह देवताओंका पशु है। इस प्रकार बृहदारण्यक मन्त्र (१।४।१०) 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मोति न स वेदसे 'आरम्भकर अविद्याका विषय जो संसार है वहीं बृहदारण्यक मन्त्र (१।६।९) 'त्रयं वा इदं नाम रूपं' कर्मके द्वारा उपसंहार किया गया

है। यह संसार[1] चातुर्वर्णादि विभागके निमित्तिभूत- पांक्तकर्मके[2] साध्य-साधनरूपमें व्यवस्थित है। यह संसार बीजांकुरके सदृश व्याकृत एवं अव्याकृत स्वभावका है। यह संसार नामरूप और कर्म त्रय रूपका है। यह उत्कर्ष एवं अपकर्षरूपमें दो प्रकारका होता है। उत्कर्षरूप संसार तीन प्रकारके अन्नका रूप है और शास्त्रीयज्ञान एवं कर्मके द्वारा लभ्य है। अपकर्षरूप संसार स्वाभाविक ज्ञान एवं कर्मके द्वारा साध्य है। आशय यह है कि शास्त्रीय ज्ञान एवं कर्मके द्वारा लभ्य उत्कृष्ट संसार ब्रह्मलोकान्त है और अशास्त्रीय स्वाभाविक ज्ञान एवं कर्मके द्वारा साध्य संसार स्थावरान्त है। इन सभी विषयोंको प्रतिपादन बृहदारण्यकमें 'द्वयाह' (बृ० उ० ।१।३।९) इत्यादिके द्वारा पूर्वमें ही किया गया है।

इस अविद्याके विषयसे विरक्त पुरुषको प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्म

---

१. संसार शब्दके द्वारा संसरण-क्रिया समझनी चाहिए। इस संसरणका चरम उत्कर्ष है ब्रह्मलोक एवं चरम अपकर्ष है स्थावररूपता।

२. वर्णाश्रमका प्रविभाग पांक्तकर्मके निमित्त है। पूर्वोक्त संसार-पांक्त-कर्मके द्वारा साध्य-फल-रूप भी है एवं साधन-रूप भी है। जाया, प्रजा एवं वित्तको अभ्युदय एवं निःश्रेयस्के साधनरूप कर्मका साधन कहा गया है। जब इन पूर्वोक्त जायादि साधनमें एककी भी कमी रहती है तो पुरुष अपनेको असम्पूर्ण समझता है। जब पुरुषको इस प्रकारकी अपूर्णताका भान होता है तब उसकी कृत्स्नताका सम्पादन भावनाके द्वारा सम्भव होता है। वैसी स्थितिमें पुरुष अपने मनको ही आत्मा-शरीर-समझता है, वाक्को जाया, प्राणको प्रजा, चक्षुको मानुष-वित्त, एवं श्रोतको देव-वित्त समझता है। इस प्रकार पंचत्वके सम्पादनसे कर्मी पुरुष कृत्स्नता प्राप्त कर यज्ञादि-कर्मानुष्ठान करता है। इस प्रकार पाँच संख्याके द्वारा सम्पादित होनेके कारण इसे पांक्त कहा गया है। पशु एवं पुरुषके द्वारा बाह्य-यज्ञ साध्य होता है। इन दोनोंमें पंचत्व संख्या विशिष्ट है, इसलिए पशु और पुरुष भी पांक्त हैं। अतः सभी प्रकारके कर्मोंका साधन एवं साध्य फल पांक्त है। यही बृहदारण्यकमें कहा गया है। इसकी विस्तृत पर्यालोचनाके लिए बृहदारण्यक उपनिषद् १।४ द्रष्टव्य।

विद्यामें कैसे अधिकार हो जायगा, इसके कारण प्रथम अध्यायमें[1] ही अविद्या सम्बन्धी समस्त विषयका उपसंहार कर दिया गया है। द्वितीय अध्यायमें 'ब्रह्म ते ब्रवाणीति' (२।१।१) ब्रह्म ज्ञापयिष्यामीति '(२।१। १५) ब्रह्मविद्याके विषयभूत प्रत्यगात्माका आरम्भ कर यह ज्ञान कराया गया है कि ब्रह्म एक है, अद्वय है और सर्वोपाधि-विशेष शून्य है। उस ब्रह्ममें क्रिया स्वभाव, कारक स्वभाव, एवं फल स्वभावका प्रतिषेध कर सत्त्व शब्दवाच्य पंचभूतके धर्मका भी निषेध किया गया है, इसका प्रतिपादक श्रुति है—'नेति नेति'। क्रियात्मक, कारकात्मक एवं फलात्मक होकर वह सभी व्यवहारोंका विषय होता है। संसार क्रिया कारक एवं फलात्मक है और वह क्रिया कारक एवं फलसे ब्रह्मसे कोई व्यतिरिक्त नहीं है, इसलिए भाष्यकारने कहा है कि क्रिया कारक एवं फल स्वभावमें ब्रह्म सर्व व्यवहारका विषय होता है, यह ब्रह्म सत्त्व-शब्दवाच्य है। सर्वोपाधि-विशेष रहित ब्रह्मके अद्वैतरूपको 'नेति 'नेति इस उक्तिके द्वारा श्रुति निषेध मुखसे कहते हैं। यही बात भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि 'नेति 'नेति इत्यादि श्रुति ब्रह्ममें अशेषमल धर्मका प्रतिषेध करते हैं[२]

अब पूर्वोक्त ब्रह्म विद्याके अंगरूप-उपकारकरूपसे कर्मके संन्यासका विधान करना है क्योंकि, कर्मके द्वारा विद्या संभव नहीं है। जाया, पुत्र एवं वित्तादि रूप पांक्त कर्म अविधाके विषय हैं। इसलिए ये पांक्त कर्म—आत्म-प्राप्तिके साधन नहीं है। अतः कर्मका संन्यास ही विधान किया जायगा। किसी एक फलके साधनको उससे भिन्न फलकी निष्पत्तिके लिए अनुष्ठान करना सर्वथा प्रतिकूल ही होता है, जैसे भूख या प्यासकी निवृत्तिके लिए 'धावन' या 'गमन' साधन नहीं हो सकता। आशय यह है कि पुत्रके द्वारा मनुष्यलोक और कर्मके द्वारा पितृलोक एवं विद्याके द्वारा देवलोक जय किया जाता है[२]।

१. बृहदारण्यक ब्राह्मणका तृतीय अध्याय ही इस उपनिषद्का प्रथम अध्याय है; क्योंकि, यह उपनिषद बृहदारण्यक-ब्राह्मणके तृतीय अध्यायसे प्रारम्भ हुआ है।

२. चतुर्थे तु ब्रह्मविद्याविषयं प्रत्यगात्मानं ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति च प्रस्तुत्य तद्ब्रह्मैक्यद्वयं सर्वविशेषशून्यं क्रियाकारकफलस्वभावसत्य-

मनुष्यलोक पितृलोक एवं देवलोकको प्राप्तिके साधन क्रमशः पुत्र कर्म एवं विद्या उपनिषद्में सर्वत्र कहा गया है। इसलिए जाया, पुत्र एवं वित्तादि पांक्त कर्म आत्म प्राप्तिके साधन नहीं हो सकते। विशेषतः ब्रह्मविद्के लिए पूर्वोक्त पांक्त कर्मका विधान नहीं किया गया है। क्योंकि कर्मसमूहका काम्यत्व श्रुतिमें पुनः-पुनः कहा गया है। एतावान्वै कामः (बृ० उ० १।४।१७) इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है।

फिर, ब्रह्मविद् आप्त काम होता है और आप्तकाम व्यक्तिकी कोई कामना उपपन्न नहीं हो सकती है, इसलिए किसी भी स्थितिमें ब्रह्मविद्के लिए पांक्त कर्म नहीं है। इस विषयमें श्रुतिने स्पष्टरूपसे कहा है कि 'येषां नोऽयमात्मायं लोकः (बृ० उ० ४।४।२२)। इसका आशय यह है कि जिन हमको यह आत्मलोक ही इष्ट है 'इसलिए हम प्रजाको लेकर क्या करेंगे क्योंकि, पुत्रादि आत्मलोक ब्रह्मलोकका साधन नहीं है[२]।

भाष्यकारने ज्ञानकर्म-समुच्चयवादियोंके मतका खण्डन बार-बार किया है, क्योंकि उनके मतके साथ श्रुतिका विरोध स्पष्ट है। ज्ञानकर्म-समुच्चयवादीगण ब्रह्मविद्को भी ऐषणाओंसे सम्बद्ध बताते हैं। इससे तो स्पष्ट है कि उन्होंने बृहदारण्यक श्रुति श्रवण ही नहीं किया है। पुत्रादि ऐषणा-समूह अविद्या विशिष्ट जीवका ही विषय है-यही श्रुतिका कथन है। विद्याके विषयमें कहा गया है कि 'जिन हमारे लिए यह आत्मलोक ही इष्ट है' इसलिए, 'हम पुत्रको लेकर क्या करेंगे—इसरूप विभाग भी उन्होंने श्रवण नहीं किया है। बृहदारण्यक श्रुतिमें 'किं प्रजया करिष्याम'से आरम्भ कर 'अयं लोक' तकके द्वारा विद्या एवं अविद्याके विषयका विभाग प्रदर्शन इन लोगोंने नहीं सुना।

शब्दवाच्याशेषभूतधर्मप्रतिषेधद्वारेण नेति नेतीति ज्ञापितम्।
बृ० उ० भा० टी० पृ० ३३७

१. बृ० उ० १।५।१६

२. न च ब्रह्मविदो विहितानि काम्यत्वश्रवणादेतावान्वै काम इति। ब्रह्मविदश्चाऽऽप्तकामत्वादाप्तकामस्य कामानुपपत्तेः। येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति च श्रुतेः। बृ० उ० भा० टी० पृ० ३३८

समुच्चयवाद स्वीकार करनेसे मात्र श्रुतिके साथ ही विरोध होता है ऐसी बात नहीं है बल्कि इससे युक्ति विरोध भी होता है क्योंकि, ब्रह्मविद्या समस्त क्रिया, कारक एवं फलका उपमर्दन स्वरूप है। यह ब्रह्मविद्या जब विद्यमान रहती है तब कार्यके साथ विद्यमान अविद्या किसी भी रूपमें उपपन्न नहीं हो सकती हैं इस स्थितिमें विद्याके साथ अविद्याकी अनुपपत्तिरूप विरोध स्पष्ट रूपसे विद्यमान है, जिसे समुच्चयवादीगण जाननेमें समर्थ नहीं हुए हैं।[१]

फिर, इन लोगोंने व्यास-वाक्य भी नहीं सुना है। कर्म एवं विद्याका स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, कर्मका स्वरूप अविद्यात्मक और विद्याका स्वरूप विद्यारूप है। उनमें विपरीत-विरोध है। इनमें निवर्त्य-निवर्त्तक-भाव विद्यमान है। वेदमें यज्ञ व्यक्तिका उद्देश्य कर कहा गया है कि 'कर्मका त्याग करो' इसलिए शिष्य व्यासजी[२]से पूछता है कि 'विद्याके द्वारा कौन गतिमें गमन करता है' और कर्मके द्वारा कौन गतिमें गमन करता है? विद्या एवं कर्मरूप उपाय परस्पर-विरुद्ध हैं—कर्म अभिमान-परिक्षालनकर अभिवृद्ध होता है एवं विद्या अभिमान-परिहारकर बढ़ता है। कर्म एवं विद्या परस्पर विसदृश्य प्रतिकूल होनेके कारण दोनोंका समुच्चय नहीं हो सकता है। इसलिए, शिष्यने व्याससे प्रश्न किया है।

इसके उत्तरमें व्यासने कहा है कि[३] कर्मके द्वारा प्राणी बद्ध होता है एवं विद्याके द्वारा वह मुक्त होता है। इसलिए, पारदर्शी संन्यासीगण कर्मका अनुष्ठान नहीं करते हैं। इस प्रकार व्यास-वाक्यके द्वारा विद्या एवं कर्ममें विरोध प्रदर्शित होनेके कारण ज्ञानकर्म-समुच्चय-पक्ष असमी-

१. केचित्तु ब्रह्मविदोऽप्येषणासंबन्धं वर्णयन्ति तैर्बृहदारण्यकं न श्रुतम्। पुत्राद्येषणानामविद्वद्विषयत्वम्। विद्याविषये च येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इत्यतः किं प्रजया करिष्याम इत्येष विभागस्तैर्न श्रुतः श्रुत्या कृतः। सर्व-क्रियाकारकफलोपमर्दस्वरूपायां च विद्यायां सत्यां सह कार्येणविद्याया अनुपपत्तिलक्षणश्च विरोधस्तैर्न विज्ञातः।

बृ० उ० भा० टी० पृ० ३३८

२. म० १२ सो, सी, एक्स,एल, मी ११–१,२

३. वही

चीन है। इस प्रकार यह पक्ष श्रुति-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध एवं स्मृति-विरुद्ध है।

अब, समुच्चय-पक्ष असमीचीन होनेके कारण साधनान्तरके साथ सहवृत्त होकर ब्रह्मविद्या पुरुषार्थका साधन होता है इसरूप नहीं समझना चाहिए। क्योंकि, सर्व प्रकार क्रिया, कारक एवं फल-विशेष द्वैतरूप-इन्द्रजालका ब्रह्म-विद्या विरोधी है। साधन-निरपेक्ष एकाकिनी ब्रह्मविद्या ही मुक्तिका हेतु है। यही समझना चाहिए। इसलिए सर्वसाधन संन्यास-रूप पारिव्राज्यको ही ब्रह्मविद्याका अंग उपकारक रूपमें विधान किया गया है। कर्म-संन्यास श्रवणादिकी पूर्णता सम्पादनकर मोक्षमें दृष्ट परिपक्व अंग है। यह मात्र श्रुतिके हो द्वारा ज्ञात नहीं होता है, अपितु, इसमें ज्ञापक लिग भी विद्यमान है। छठे अध्याय (बृ० उ० के चतुर्थ अध्याय) की समाप्तिमें कहा गया है कि "इतना ही अमृतत्त्व-मोक्षका साधन है।' इस स्थलमें श्रुतिने स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया है कि ब्रह्म विद्या-मात्र ही मोक्षका साधन है।

फिर, यहाँ लिंगान्तरकी भी सूचना दी गयी है। अगर कर्म-सहित-ज्ञान मुक्तिका हेतु होता तब क्यों कर्मी याज्ञवल्क्यके पारिव्राज्यका उल्लेख बृहदारण्यकमें किया गया है? अतः यह स्पष्ट है कि कर्मका त्याग ही मोक्षमें अपेक्षित है। वही मोक्षका उपकारक है। इसमें और भो लिंग यह है कि मैत्रेयी कर्मरूप साधन रहित है और उसे उद्देश्य करके अमृतत्त्वके साधन-रूपमें ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया गया है। फिर वित्तादि की निन्दा भी की गयी है।

आशय यह है कि जब भर्त्ता याज्ञवल्यने कर्मका त्याग किया तब उस स्थितिमें मैत्रेयी स्वयं कर्म में अधिकारिणा नहीं हो सकती, क्योंकि, पतिके द्वारको छोड़ भार्याका स्वतन्त्ररूपसे कर्मानुष्ठानमें अधिकार नहीं है। कर्मशून्या मैत्रेयीको मुक्तिका साधनके रूपमें ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया गया है. इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि कर्मका त्याग ही अमृतत्त्व-मुक्तिका अंग है।

बात यह है कि मैत्रेयीने स्वयं 'किमहं तेन कुर्याँ' इत्यादि वाक्य द्वारा वित्तकी निन्दा की है। इसलिए, सिद्ध होता है कि वित्त-साध्य-कर्मज्ञानका सहायक होकर मुक्तिमें उपकारी नहीं हो सकता है। अगर

कर्म अमृतत्त्वका साधन हो जाय तब वित्तके द्वारा पांक्त-कर्म-साध्य होनेके कारण वित्तकी निन्दा अनिष्ठापादक होती। कर्मका परित्याग अभिलषित होनेपर ही कर्मके साधन-वित्तकी निन्दा युक्तियुक्त होती।

फिर, "मैं ब्राह्मण हूँ", "मैं क्षत्रिय हूँ" इत्यादि अभिमान कर्मानुष्ठानके ही निमित्त हैं। लेकिन, पूर्वोक्त अभिमानकी स्पष्टरूपमें निन्दा की गयी है। यह समस्त जगत् आत्मा है।[१] इस ज्ञानमें श्रुतिका तात्पर्य है कि ब्राह्मणत्वादि अभिमान अविद्या-प्रयुक्त है। क्योंकि, वर्णाश्रमादि अभिमान कर्ममें अधिकारका कारण है। "मैं ब्राह्मण हूँ"; "मैं क्षत्रिय हूँ" इस प्रकारके ज्ञानसे पुरुष कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त होता है। वर्णाश्रमादि-ज्ञानका उपमर्दन बार-बार श्रुतिने किया है। 'ब्रह्मतं परादात्[२]', 'क्षत्रं तं परादात्[३]' इत्यादि बृहदारण्यक-मन्त्र इसमें प्रमाण हैं। अतः इससे सिद्ध होता है कि कर्म-संन्यास ही ब्रह्मविद्याके अंगरूपमें विधान किया गया है। कर्मका संन्यास-कर्मका त्याग कोई भाववस्तुका द्योतक नहीं है, यह अभावरूप है। निष्कर्ष यह है कि समस्त कर्मके साथ सम्बन्ध रहित एकाकिनी ब्रह्मविद्या ही मोक्षका साधन है।

जब 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ'—इस प्रकारके अभिमानका उपमर्दन होता है तब तो उस स्थितिमें 'ब्राह्मणके द्वारा यही कर्म कर्त्तव्य है, क्षत्रियके द्वारा यही कर्म कर्त्तव्य है 'इत्यादि विधिका कोई विषय नहीं रहनेके कारण पूर्वोक्त विधि आत्मलाभ करनेमें असमर्थ ही होता है। जिस पुरुषका भी 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ'—यह आत्म-विषयक[४] अभिमान उपमर्दित हुआ है उसे तत्सम्बन्धी अभिमानका परित्याग हो जानेके कारण स्वतः ही पूर्वोक्त अभिमानके कार्यभूत कर्म-समूह एवं कर्मके साधनोंका भी अर्थ-प्राप्त संन्यास हो जाता है। जब ब्राह्मणत्वादि

१. अयमात्मा सर्वेषां भूतानां।

बृ० २।५।१४

२. बृ० ४।५।७

३. बृ० ४।५।६

४. 'मैं ब्राह्मण हूँ', मैं क्षत्रिय हूँ' इस प्रकारके अभिमान-बोध रहनेसे ही पुरुष कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त होता है। कर्मानुष्ठान पूर्वोक्त अभिमानिक-बोध-निबन्धन है। इसलिए कर्म समूहका अनुष्ठान इसका कार्य है'।

अभिमानिक-बोध निवृत्त हो जाता है तब कार्यभूत कर्म-समूह एवं कर्म-समूहके साधनका अर्थतः त्याग-संन्यास हो जाता है। इसलिए आत्म-ज्ञानके अंगरूपमें कर्मके संन्यासको बतानेके लिए याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी आख्यानका आरम्भ हुआ है।

मैत्रेयी-ब्राह्मण

पूर्वोक्त आख्यायिका इस प्रकार है—याज्ञवल्क्य नामक ऋषि अपनी भार्या मैत्रेयीको सम्बोधनकर कहते हैं—'अरे मैत्रेयी! मैं इस गार्हस्थ्य आश्रमसे ऊर्ध्व पारिव्राज्य संज्ञक आश्रमान्तरमें गमन करनेके लिए इच्छुक हूँ। इसलिए तुम्हारी अनुमतिकी प्रार्थी हूं।[१] फिर अपनी दूसरी भार्या कात्यायनीके साथ तुम्हारा विच्छेद भी कर दूँगा। पतिरूपमें मुझसे सम्बद्ध रहनेके कारण तुम दोनोंमें जो सम्बन्ध है उसका विच्छेद कर दूँगा। वित्तके द्वारा तुम दोनोंका विभाजन करूँगा। तब मैं संन्यास आश्रममें चला जाऊँगा।

याज्ञवल्क्यके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर मैत्रेयीने कहा—भगवन्! अगर यह सागरसे घिरी हुई तथा धनसे परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी मेरी हो जाय तो भी मैं क्या किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ?[२]—उस सम्पूर्ण पृथ्वीके वित्तसे निष्पाद्य अग्निहोत्रादि कर्मके द्वारा क्या मैं अमृत्व प्राप्त कर सकूँगी? इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि 'ऐसा नहीं हो सकता है। लोकमें जिस प्रकार उपकरणवान् साधन-सम्पन्न-पुरुषोंका जीवन सुखके उपायभूत भोगोंसे सम्पन्न होता है, वैसे ही तुम्हारा भी जीवन हो जायगा। वित्त साध्य कर्मके द्वारा अमृत्वकी मनसे भी आशा नहीं है।

यह सुनकर मैत्रेयी प्रत्युत्तरमें कहती हैं कि 'जिसके द्वारा मैं अमृत्व

१. भार्या प्रभृत्ति विद्यमान रहनेसे उन सबकी अनुमति लेकर ही संन्यास ग्रहण किया जाता है—यही धर्मशास्त्रकी मर्यादा है।

२. यहाँ बृहदारण्यक-मन्त्रमें व्यवहृत 'कथम्' शब्दके अर्थ-प्रदर्शन-प्रसंगमें भाष्यकार शंकराचार्यने कहा है कि 'कथम्? न कथंचनेत्या—क्षेपार्थः प्रश्नार्थो वा।' फिर, 'कथमिति यथाक्षेपार्थम्' अनुमोदनं नेति होवाच याज्ञवल्क्य इति। प्रश्नश्चेत्प्रतिवचनार्थम्, नैव स्या अमृता।'

लाभ नहीं कर सकती. उस वृत्तके द्वारा मैं क्या करूँगी ? भगवन ! जो कुछ केवल अमृतत्वके साधन रूपमें आप जानते हैं वही मुझे उपदेश करें इस प्रकार वित्तादि साधनका त्याग कर दिये जाने पर याज्ञवल्क्यने अपनेकी अभिप्राय पूर्तिसे संतुष्ट होकर मैत्रेयीसे कहा—अरे मैत्रेयी ! तुम पूर्वमें भी हमारी प्रिया रही हो। और अभी भी प्रिय-चित्तके अनुकुल ही भाषण कर रही हो। इसलिए आओ। बैठ जाओ। मैं तेरे अभीष्ट अमृतत्वके साधन आत्मज्ञानका उपदेश करूँगा। मेरे व्याख्यानके बाद तुम उस विषयका निदिध्यासन करना—मेरे द्वारा कहे गये वाक्य-समूहका अर्थतः निश्चयके द्वारा ध्यान करनेकी इच्छा करना।

याज्ञवल्क्यके द्वारा दिये गए मैत्रेयीको उपदेशका उद्देश्य यही है कि अमृतत्वका साधन वैराग्य है। वैराग्यके विषयमें इच्छुक होकर याज्ञवल्क्य मैत्रेयीको पति पुत्रादिसे विराग उत्पन्न कराते हैं। इस प्रसंगमें वृहदारण्यकमें कहा गया है कि पतिके प्रयोजनसे पत्नीके लिए पति प्रिय नहीं होता हैं किन्तु अपने प्रयोजनकी अपेक्षा ही से जायाको पति प्रिय होता हैं। इसी प्रकार जाया, पुत्र, वित्त ब्राह्मण' क्षत्रिय, लोक-समूह, देव-समूह, प्राणि-समूह, भूत-समूह एवं और सभीकी अपेक्षासे ही इस प्रकार अर्थ समझना चाहिए। इस प्रसंगमें जो प्रीतिके आसन्न साधन हैं उनका पूर्वमें निर्देश किया है। क्योंकि उन सबमें यथा क्रमसे वैराग्य अधिकाधिक इष्टतर हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि 'न वा अरे सर्वस्य कामाय—'इस स्थलमें' सर्व-शब्दका प्रयोग उक्त-कहे गये और अनुक्त-नहीं कहे गये। सभी साधनोंको सूचित करनेके लिए हैं।

यह बात लोकमें प्रसिद्ध है कि आत्मा ही प्रिय है और अन्य कुछ नहीं। इस प्रसंगमें बृहदारण्यक मन्त्रमें प्रतिपादित श्रुति—'तदेतप्रेयः पुत्रात्[१] यह आत्मा पुत्रसे प्रिय है—'के व्याख्यान स्वरूप समझना चाहिए आत्माकी प्रीतिका साधन होनेके कारण पति, जाया प्रभृतिमें जो प्रीति है वह गौणी है और आत्मामें जो प्रीति है वह मुख्या है। निष्कर्ष यह है कि पति जायादि आत्म-प्रयोजनके लिए होनेके कारण प्रियतर हैं और आत्मामें अनुपाधिक प्रियतर रहनेके कारणात्मा परमानन्दरूप है। इसलिए उपसंहारमें याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि—हे मैत्रेयी ! आत्मा

१. बृ० उ० १।४।८

ही द्रष्टव्य है। साक्षात् करने योग्य हैं। 'आत्मा ही श्रोतव्य है-पहले आचार्य एवं शास्त्रसे श्रवण योग्य है, फिर, यह मन्तव्य है—आत्मा तर्कके द्वारा मनन करने योग्य है। और फिर यह निदिध्यासितव्य है। आत्मा निश्चय रूपसे ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन रूप साधनके द्वारा सम्पन्न होनेके बाद ही आत्मा का साक्षात्कार होता है। जब पूर्वोक्त साधन-समूहकी आत्मरूप विषयैकत्व प्राप्त होती है तब उस समयमें ब्रह्मैकत्व विषयक सम्यक् ज्ञान प्रसाद होता है। श्रवणादि मात्रसे यह संभव नहीं है।

कर्मके निमित्त 'ब्राह्मणत्वादि 'क्षत्रियत्वादि वर्णाश्रमादि रूप हैं। वे आत्मामें अविद्याके द्वारा अध्यारोपित मिथ्याज्ञानकें विषयरूपमें व्यवस्थित हैं। क्रिया, कारक एवं फलरूप है[1] यह पहले ही कहा जा चुका है। यह अविद्याके द्वारा अध्यारोपित प्रत्ययका विषय हैं जैसे रज्जू में सर्पका प्रत्यय। इसे उपमर्दन करनेके लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अरे मैत्रेयी! आत्माका जब साक्षात्कार होता है और जब आत्मा श्रुत होता है और, आत्मा मननका विषय होता है एवं विज्ञान हो जाता है तब निश्चय ही यह सब विदित हो जाता है।

विधि-विचार

मैत्रेयी ब्राह्मणमें आम्नात 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो श्रुतिके सम्बन्धमें अद्वैत वेदान्त दर्शनके ग्रन्थोंमें अतिशय विस्तृत विचार किया गया है। सम्बन्धमें जो गम्भीर विचार राशि एक ही स्थानमें अध्ययन करना चाहते हैं वे सिद्धान्तलेश-संग्रहके प्रथम परिच्छेदका विधि-विचार नामक भाग विशेष यत्नके साथ अध्ययन करें। ग्रन्थ-विस्तारके भयसे उसका संक्षिप्त आशय ही हमलोग यहाँ प्रदर्शन करेंगे।

---

१. कर्मका संन्यास विधान करना ही अभिप्रेत है। मैं ब्राह्मण हूँ -इत्यादि वर्णाश्रम अवस्थामें स्थित होकर जो अभिमान होता है वह कर्मके निमित्त है। और यागादि कर्म क्रिया, कारक एवं फलरूप हैं। यागादि क्रिया है, यजमान उसका कर्तृकारक है एवं स्वर्गादि उस क्रियाका फल है। इस प्रकार कर्म क्रिया, कारक एवं फलरूपसे व्यवस्थित है।

उसमें यह कहा गया है कि जिस पुरुषने अंगोंके साथ समग्र वेदका अध्ययन किया है उसे वेदान्त-वाक्यके द्वारा आपाततः यह ज्ञान होता है आत्मा ब्रह्मस्वरूप है। स्वाध्याय वेदमें अन्तर्भूत है। इसलिए जिसने अंगोंके साथ वेदका अध्ययन किया है उसने वेदान्त-वाक्यका भी अध्ययन किया है—यही समझना चाहिए। और वेदान्त-वाक्यके अध्ययनसे साधारणरूपमें यह ज्ञान होता है कि 'ब्रह्मस्वरूप आत्मा है' और पूर्वोक्त पुरुषमें ब्रह्मको विशेषरूपसे जाननेके लिए प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। उस पुरुषको विशेषरूपसे ब्रह्मज्ञान करानेके लिए मैत्रेयी-ब्राह्मणमें कहा गया है—'रे मैत्रेयी! आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए' इत्यादि। इस प्रकार आत्माका साक्षात्कारके लिए पूर्वोक्त वेदान्त-वाक्यके श्रोतव्यमें 'तव्य' प्रत्ययके द्वारा जिस विधिकी प्रतीति होती है वह विधि किस प्रकार की है?—यही विशेष-विचारका विषय है।

साधारण रूपमें विधि तीन प्रकारके हैं—(१) अपूर्व विधि, (२) नियम विधि एवं (३) परिसंख्या विधि। इसमें तीनों कालमें किसी भी प्रमाणसे जो प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्ति करानेवाली विधि अपूर्व विधि है। जैसे—'व्रीहीन् प्रोक्षति'—धानोंका प्रोक्षण करें—यह अपूर्व-विधिका दृष्टान्त है। इस स्थलमें व्रीहियोंके प्रोक्षणके द्वारा व्रीहिका संस्कार होता है और तब उस संस्कृत व्रीहियोंका यज्ञमें उपयोग होता है। यह व्रीहियोंका प्रोक्षण-रूप संस्कार-क्रिया पूर्वोक्त 'व्रीहीन् प्रोक्षति'को छोड़कर प्रमाणान्तरके द्वारा ज्ञात नहीं होता है। प्रोक्षणके द्वारा व्रीहियोंका संस्कार सर्वथा अतीन्द्रिय है; यह न तो प्रत्यक्षका विषय है, और न किसी अनुमानादि-प्रमाणका। इसलिए, व्रीहियोंके प्रोक्षण विधिको अपूर्व-विधि कहते हैं।

पक्षमें प्राप्त एवं पक्षमें अप्राप्त है इस स्थितिमें जो अप्राप्तांशका परिपूरणरूप-फल जिस विधिसे होती है वह नियम-विधि है। जैसे—'व्रीहीन् अवहन्ति'—व्रीहियोंका अवघात करना चाहिए—यह नियम-विधिका दृष्टान्त है। इस प्रसंगमें कहा गया है कि व्रीहिके तुषको हटाकर उससे निष्पन्न तण्डुलके द्वारा पुरोडाश बनता है जो यज्ञमें दिया जाता है। जबतक व्रीहिको तुषशून्य नहीं किया जायगा, तबतक उससे तण्डुल

नहीं निकलेगा और तब तण्डुलके द्वारा निष्पन्न पुरोडाश भी नहीं बन पायेगा। व्रीहिको वितुष करनेके लिए नाना प्रकारका उपाय है, जैसे मूशलसे धानोंको कूटकर, नखके द्वारा तुषको हटाकर आदि। इस स्थितिमें विधि नहीं रहने पर भी पुरोडाशके प्रकृतिभूत द्रव्य व्रीहिको तण्डुलरूपमें निष्पन्न करानेमें जो प्रयोजन है, उसीके बल पर व्रीहिका अवहन प्राप्त होता है। इसलिए जो व्यक्ति व्रीहिके वैतुष्य-सम्पादन करनेके लिए अवघातमें प्रवृत्त हुआ है उसे व्रीहिके अवघात करनेके लिए विधानका कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु, व्रीहिको तण्डुलरूपमें परिणत करनेके लिए जो नख विदलन आदि उपायमें प्रवृत्त होते हैं उस स्थितिमें तो व्रीहिके अवहननकी प्राप्ति नहीं होती है। उस स्थितिमें अवहननकी अप्राप्ति होनेके कारण उस अप्राप्त अंशको परिपूरण करनेके लिए यह 'व्रीहीनवहन्ति' नियम विधि है। अवघातके द्वारा वैतुष्य सम्पादन करनेके फलस्वरूप अवघातकर्त्ताकी आत्मामें अदृष्ट उत्पन्न होता है। नख विदलनादिके द्वारा वैतुष्य-सम्पादन करनेसे यह अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए, अवहननमें विधि किया गया है।

दो अंगियोंमें-से एक अंगकी अथवा एक अंगीमें दो अंगोंको नित्य-प्राप्ति होनेपर पहले पक्षमें एक अंगीकी और दूसरे पक्षमें एक अंगकी निवृत्ति करनेवाली विधि ही परिसंख्या विधि है। परिसंख्या शब्दका अर्थ है निषेध। इस विधिका प्रसिद्ध दृष्टान्त है—'इमामगृभ्णन्रशनामृत-स्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते।' इमामगृभ्णन् इत्यादि मन्त्रसे अश्वकी रसीका ग्रहण करें। अग्नि-चयनमें अश्वरशनाग्रहण और गर्दभरशना-ग्रहण—इन दोनोंकी प्राप्ति होती है। अतः दोनों अङ्गी हैं। इस स्थितिमें अश्व-रशना-ग्रहणमें 'इमामगृभ्णन्' इत्यादि मन्त्र रशना-ग्रहण-प्रकाशनरूप लिंगके द्वारा नित्य प्राप्त होता है। इससे 'अश्वाभिधानीमादत्ते' यह विधि अश्वरशना-ग्रहणमें उक्त मन्त्रकी अपूर्व-प्राप्ति करानेके लिए अपूर्व-विधि अथवा उसके अप्राप्तांशके परिपूरणरूप प्रयोजनके लिए नियम-विधिका भी कोई अवसर नहीं है। परन्तु, रशना-ग्रहण-प्रकाशन-सामर्थ्यरूप-लिंगके द्वारा पूर्वोक्त 'इमामगृभ्णन्' इत्यादि मन्त्र जैसे अश्व-रशना-ग्रहणमें प्राप्त होता है वैसे ही गर्दभ-रशना-ग्रहणमें भी। इसलिए गर्दभ-रशना-ग्रहणमें 'इमामगृभ्णन्' इत्यादि मन्त्रकी प्राप्तिको निवृत्ति

करनेके लिए 'अश्वाँभिधानीमादत्ते'--अश्वरशना-ग्रहण ही करना चाहिए--यँही परिसंख्याविधि है। इस स्थलमें अश्वरशना-ग्रहण एवं गर्दभ-रशना-ग्रहण ये दोनों अनुष्ठान-रूप होनेके लिए अंगी हैं और इसमें जो मन्त्र प्राप्त हो जायगा—वह अंग है। फलितार्थं यह है कि दो अंगियोंमें एक मन्त्ररूप अंगका प्राप्तिकी स्थितिमें एक अंगीको--यहाँ गर्दभ-रशना-ग्रहणको–साक्षात रूपसे निषेध कर दिया गया है। इसलिए कहा गया है कि 'अश्वाभिधानीमादत्ते।' इस प्रसंगमें अश्व-रशनाके ग्रहणमें मन्त्रकी प्राप्तिका विधानके द्वारा गर्दभ-रशना-ग्रहणमें मन्त्रकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

अपूर्व-विधि

इस तरह तीन प्रकारकी विधि जब अवस्थान करती है तब इस स्थितिमें 'श्रवणमें' दिया गया 'तव्य' विधि प्रत्यय किस विधिके अन्तर्गत है—यही आलोच्य विषय है। इससे ब्रह्मसूत्रके प्राचीन टीकाकार-प्रकटार्थकार- प्रभृति कोई कहते हैं कि[१] 'श्रोतव्यः' स्थलमें 'त'तव्य प्रत्ययके द्वारा अपूर्व विधि ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, वेदान्त-वाक्य श्रवण ब्रह्म-साक्षात्कारके प्रति हेतु है और यह श्रोतव्यः इस विधिको छोड़-कर किसी भी प्रमाणान्तरके द्वारा ज्ञात नहीं होता है। जहाँ-जहाँ वेदान्त-वाक्य श्रवण है वहाँ-वहाँ ब्रह्म-साक्षात्कार होता है और जहाँ-जहाँ वेदान्त-वाक्य श्रवण नहीं है वहाँ-वहाँ ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता है इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकरूप प्रमाण–कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है, वरन, इसके विपरित अन्वय व्यभिचार एवं व्यतिरेक व्यभिचार विद्यमान है। क्योंकि लोक-व्यवहारमें देखनेमें आता है कि वेदान्त-वाक्य श्रवण करनेपर भी ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता है। इसलिए वेदान्त वाक्य श्रवणरूप हेतु विद्यमान रहनेपर भी ब्रह्म साक्षात्कार उत्पन्न नहीं होनेके कारण अन्वय व्यभिचार स्पष्ट है और इससे ब्रह्म साक्षात्कारमें श्रवणका हेतु नहीं होना ही सिद्ध होता है।

---

१. अत्र प्रकटार्थकारादयः केचिदाहुः— अपूर्वविधिरयम्, अप्राप्तत्वात्। नहि 'वेदान्तश्रवणं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुः 'इत्यत्र अन्वयव्यतिरेकप्रमाणमस्ति। लोके कृत श्रवणस्याऽपि बहुशस्तदनुत्पत्तेः, अकृत श्रवणस्याऽपि गर्भस्थस्य वामदेवस्य तदुत्पत्तेरुभयतो व्यभिचारात्। सि० पृ० १०

केवल इतना ही नहीं अपितु वेदान्त-वाक्य श्रवण नहीं करनेपर भी गर्भस्थ वामदेव ऋषिको ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ था। अतः व्यतिरेक व्यभिचार भी विद्यमान हैं। वेदान्त-वाक्य श्रवण रूप हेतु नहीं रहनेसे ब्रह्मसाक्षात्काररूप-कार्य उत्पन्न नहीं होना उचित था। हेतु नहीं रहनेसे कार्य नहीं रहना व्यतिरेक है। प्रकृत स्थलमें कारण नहीं रहने पर भी कार्यकी उत्पत्ति जब अनुभव सिद्ध है तब इससे यह प्रमाणित होता है कि पूर्वोक्त स्थलमें व्यतिरेक व्यभिचार विद्यमान है। इस तरह अन्वय-व्यभिचार एवं व्यतिरेक-व्यभिचार विद्यमान रहनेसे यह सिद्ध होता है कि वेदान्त-वाक्य श्रवण ब्रह्म साक्षात्कारका हेतु नहीं है। इसलिए ब्रह्म-साक्षात्कारमें श्रवणकी कारणता अप्राप्त होनेपर भी जब 'श्रोतव्य' शब्दके द्वारा उसकी प्राप्ति करायी जा रही है तब यहाँ अपूर्व-विधि है।

इसपर पूर्वपक्षीका कथन है कि श्रवण-मात्र ही श्रोतव्य अर्थका साक्षात्कारके प्रति कारण है। यह सामान्यरूपसे कार्य-कारण-भाव शास्त्रान्तरके श्रवणसे ज्ञात होता है। इसलिए, ब्रह्म साक्षात्कार और वेदान्त-वाक्य श्रवणका विशेषरूपसे कार्य-कारणभाव नहीं होनेपर भी सामान्यरूपसे वेदान्त-वाक्य श्रवण और ब्रह्म-साक्षात्कारका परस्पर कार्य-कारणभाव है। क्योंकि, ब्रह्म-साक्षात्कार श्रोतव्यके अर्थका साक्षात्कार है, और वेदान्त-वाक्य श्रवण भी तो श्रवण ही है। अतः श्रोतव्य ब्रह्मरूप अर्थके साक्षात्काके प्रति वेदान्त-वाक्य श्रवणमें हेतुता प्राप्त हो है। अतएव, प्रकृत-स्थलमें अपूर्व-विधि नहीं हो सकती है।

इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षीका इस रूप कथन सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उनके द्वारा प्रदर्शित नियम सर्वत्र देखनेमें नहीं आता है। यह ठीक है कि संगीत-शास्त्रादिका श्रवण षड्जाति-स्वरके साक्षात्कारका कारण है और इसे सिद्धान्ती भी स्वीकार करनेके लिए तैयार है, परन्तु कर्मकाण्डादि-शास्त्रके प्रतिपादक मन्त्रके श्रवणसे उसके प्रतिपाद्य धर्मादि-अदृष्ट अर्थका साक्षात्कार नहीं देखा जाता है। क्योंकि, धर्मादि अतीन्द्रिय है। इसलिए, पूर्वपक्षी द्वारा (कथित सामान्य-नियम श्रवण-मात्र श्रोतव्य अर्थके साक्षात्कारका कारण है · व्यभिचार-

दोषयुक्त है और इससे यह सिद्ध होता है कि 'श्रोतव्य' स्थलमें अपूर्व विधि है।[१]

भाष्यकार शंकराचार्यने भी 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीय तद्वतो विध्यादिवत्'—इस अधिकरणमें कहा है कि विद्याके सहकारी-कारण निदिध्यासनमें भी बाल्य एवं पाण्डित्यके सदृश विधि ही माननी चाहिए; क्योंकि, बाल्य एवं पाण्डित्यके सदृश निदिध्यासन भी अपूर्व है—निदिध्यासन जो विद्याका सहकारी साधन है—यह किसी प्रमाणान्तरके द्वारा प्राप्त नहीं है। इस प्रकार पाण्डित्य शब्दके द्वारा अभिधान किये जानेवाले श्रवणमें भाष्यकारने अपूर्व-विधि ही स्वीकार किया है।[२]

नियम-विधि: अद्वैत-वेदान्तके मूर्द्धन्य आचार्य विवरणकार श्रवणको नियम-विधि कहते हैं। उन्होंने भिन्न सिद्धान्त स्वीकार करनेके लिए युक्ति प्रदर्शन किया है। उनका कहना है कि वेदान्त-वाक्यके श्रवणमें नित्य अपरोक्ष ब्रह्मके साक्षात्कारकी कारणता अप्राप्त नहीं है। इसलिए वेदान्त-वाक्य-श्रवण—"श्रोतव्य स्थल'—में अपूर्व-विधि नहीं हो सकती है। वेदान्त-वाक्यका श्रवण नित्य अपरोक्ष ब्रह्मके साक्षात्कारका हेतु

---

१. न वा 'श्रवणमात्रं श्रोतव्यार्थसाक्षात्कारहेतुः' इति शास्त्रान्तरश्रवणे गृहीतः सामान्यनियमोऽस्ति। येनाऽत्र विशिष्य हेतुत्वग्राहकाभावेऽपि सामान्यमुखेनैव हेतुत्वं प्राप्यत इत्याशङ्कयेत। गान्धर्वादिशास्त्रश्रवणस्य षड्जादिसाक्षात्कारहेतुत्वाभ्युपगमेऽपि कर्मकाण्डादिश्रवणात् तदर्थधर्मादिसाक्षात्काराऽदर्शनेन व्यभिचारात्। तस्मादपूर्वविधिरेवाऽयम्।

सि० पृ० ११-१२

२. बृ० उ० ३।५।१ में कहा गया है कि 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः' बृ० उ० के इस मन्त्रका अर्थ वेदान्त कल्पतरुमें इस प्रकार प्रदर्शन किया गया है—पाण्डित्य—श्रवणको जानकर बाल्यके द्वारा—मननके द्वारा—तत्त्वनिर्णय-रूप विद्या प्राप्त हुई है, ऐसे तत्त्व-साक्षात्कारकी अभिलाषीके लिए पाण्डित्य और बाल्यके बाद मुनिः —ध्यानशील—निदिध्यासनका विधान किया गया है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त बृहदारण्यक-वाक्यमें पाण्डित्य शब्दके द्वारा श्रवण, बाल्य शब्दके द्वारा मनन एवं 'मुनिः' शब्दके द्वारा निदिध्यासन-ग्रहण किया गया है।

है—इसमें अतिशय बलवती युक्ति विद्यमान है। अपरोक्ष-वस्तु विषयक सभी प्रमाण-साक्षात्कारके हेतु हैं और इस विषयको शब्दापरोक्षवाद[1]में व्यवस्थापित किया गया है। शब्दसे जो अपरोक्ष-साक्षात्कार उत्पन्न

१. भिन्न-भिन्न प्रस्थानके प्रायः सभी दार्शनिकोंने यह स्वीकार किया है कि शब्द-प्रमाणसे परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है। शब्द प्रमाणसे अपरोक्ष-प्रमा उत्पन्न नहीं हो सकता है। शब्द स्वभावसे ही परोक्षज्ञानका जनक है। स्वभाव अपने स्वभावका अतिक्रमण किसी भी स्थितिमें नहीं कर सकता है। जब स्थिति यही है तब कैसे वेदान्त-वाक्य श्रवणसे ब्रह्मका अपरोक्ष-ज्ञान होगा? शब्दसे तो परोक्ष-ज्ञान ही होना चाहिए। इसके उत्तरमें विवरणानुयायी आचार्योंका कथन है कि ज्ञानका जो परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व विभाग हैं—यह प्रमाणायत्व नहीं है, बल्कि वह विषयाधीन है। वेदान्त-सिद्धान्तमें ब्रह्म एक ऐसा विषय है जो अपरोक्ष-स्वभावी है। इसलिए बृ० उ० ३।४।१ में कहा गया है कि 'साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'—ब्रह्म अपरोक्ष स्वभाव है। ब्रह्मके सदृश अपरोक्ष किसी भी अन्य वस्तुको किसी और दर्शनशास्त्रमें स्वीकार नहीं किया गया है। इसलिए अपरोक्ष-ब्रह्मको विषय करनेवाला प्रमाण ब्रह्मको अपरोक्षरूपमें ग्रहण करता है। ब्रह्म एक अनन्य-साधारण वस्तु है जिसे अपरोक्षरूपमें ही शब्द-प्रमाण प्रकाश करता है। शब्दापरोक्षवाद-सिद्धान्तके अनुसार ज्ञानका परोक्षत्व और अपरोक्षत्व विभाग प्रमाणके अधीन नहीं है। इसमें विशेष ध्यान देनेकी बात यह है कि कर्मानुष्ठानके द्वारा जब चित्त पूर्णतया शुद्ध हो जाता है तब उस स्थितिमें 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य-श्रवण करनेके अव्यवहित बाद ही ब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कार उत्पन्न होता है। यही शब्दापरोक्षवाद-सिद्धान्तका निर्यास है। इसके प्रधान समर्थक विवरणाचार्य हैं यह पहले ही कहा जा चुका है। भामतीकार तो शब्दापरोक्षवादके समर्थक नहीं हैं। भामतीकारके मतमें ब्रह्मका साक्षात्कार मनसे होता है। भामतीकार मनको इन्द्रियके रूपमें स्वीकार करते हैं जबकि विवरणाचार्य मनको इन्द्रियरूपमें स्वीकार नहीं करते हैं। पञ्चदशी-ग्रन्थमें शब्दापरोक्षवादके दृष्टान्त-स्वरूप 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यका उल्लेख किया गया है। इस प्रसंगमें विशेष-विवरणके लिए अप्पयदीक्षित-बिरचित कल्पतरुकी परिमल-टीका-ग्रन्थ द्रष्टव्य।

होता है—यही प्रदर्शन करनेके लिए शब्दापरोक्षवादका प्रस्ताव किया गया है।[१]

इस पर श्रवणमें अपूर्व-विधि स्वीकार करनेवाले पूर्वपक्षी आचार्यगण पुनः शंका करते हैं। उनका कहना यह है कि शब्दापरोक्षवामें इसकी सिद्धिकी गयी है कि अपरोक्ष वस्तुको विषय करनेवाला प्रमाण अपने विषयकी अपरोक्ष प्रमा उत्पन्न करता है। इसलिए वेदान्त वाक्योंमें भी नित्य अपरोक्ष ब्रह्मरूप अपने विषयके सामान्य अपरोक्ष ज्ञानकी कारणता प्राप्त होगी। लेकिन ब्रह्मसत्ताके निश्चयात्मक साक्षात्कारकी कारणता वेदान्तोंमें प्राप्त नहीं होगी। और यह साक्षात्कार विचार विशिष्ट-वेदान्त-वाक्य श्रवणसे ही हो सकता है अन्यथा विचारके विना भी ब्रह्मसत्ताका निश्चयात्मक साक्षात्कार उत्पन्न होगा। किन्तु, ऐसा नहीं देखनेमें आता है। अविद्याकी निवृत्ति करनेके लिए ब्रह्मसत्ता-का निश्चयात्मक ज्ञान ही अपेक्षित है क्योंकि साधारण ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसी कारण, श्रुतिमें बार-बार कहा गया है कि सत्ता निश्चयरूप ब्रह्म-साक्षात्कार ही अविद्याका निवर्तक है। इसलिए सत्ता-निश्चयरूप ब्रह्म-साक्षात्कारके हेतु-रूपसे वेदान्त वाक्य-श्रवण प्राप्त नहीं है—उसीका विधान करनेके लिए 'श्रोतव्यः' अपूर्व विधि है।

इसके उत्तरमें विवरणानुसारी आचार्यगण कहते हैं कि प्रदर्शित स्थलमें श्रवण शब्दका अर्थ है विचार। विचार मात्रमें विचार विषयके निर्णयात्मक ज्ञानके प्रति हेतुता प्राप्त है और ब्रह्मविषयक प्रमाण-वेदान्त वाक्य शब्दापरोक्षवादके सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म साक्षात्कारका

---

१. विचारस्य विचार्यार्थनिर्णयं प्रति हेतुता ॥
अपरोक्ष प्रमाणस्य तत्साक्षात्कारहेतुता ॥ ५ ॥
प्राप्तैव, किन्त्वनियता भ्रान्तिः प्राप्ताऽन्यसाधनैः ॥
ततो नियम इत्याहुः सर्वे विवरणानुगाः ॥ ६ ॥

अन्येषु-वेदान्तश्रवणस्य नित्यापरोक्षब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वं न अप्राप्तम्, अपरोक्षवस्तुविषयकप्रमाणत्वावच्छेदेन साक्षात्कारहेतुत्वस्य प्राप्तेः शब्दापरोक्षवादे व्यवस्थापनात्। तदर्थमेव हि तत्प्रस्तावः। सि० पृ० १४-१५

जनक है। अतः निष्कर्ष यह है कि वेदान्त-वाक्य श्रवण-विचारित वेदान्त-वाक्य सत्ता निश्चयात्मक ब्रह्म साक्षात्कारमें हेतु है। इसलिए अपूर्व विधिवादीका पूर्वोक्त कथनकी वेदान्त-वाक्य ,श्रवणका सत्ता निश्चयरूप ब्रह्म साक्षात्कारमें कारणत्व प्राप्त नहीं है–सर्वथा अनुचित है।[१]

अपूर्व विधिवादी फिर एक शंका उपस्थापन कर कहते हैं कि यह स्वीकार करनेसे कि वेदान्त वाक्य-श्रवणके द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त है अन्वय व्यभिचार एवं व्यतिरेक व्यभिचारकी आपत्ति हो जायगी। इस प्रसंगमें अपूर्व विधिवादीकी युक्तिका उल्लेख पहले ही हो चुका है। वहाँ उनकी युक्तिका आशय यही था कि आत्मसाक्षात्कारके प्रति वेदान्त-वाक्य-श्रवण कारण नहीं हो सकता, क्योंकि, वेदान्त-वाक्य श्रवण करने पर भी कुछ मनुष्योंको आत्मज्ञान नहीं होता और वामदेवको वेदान्त वाक्य-श्रवण नहीं करनेपर भी आत्मज्ञान हुआ था। इस प्रकार अन्वय एवं व्यतिरेक व्यभिचार होनेके कारण विचारित वेदान्त-वाक्य भी आत्म-सत्ताके निश्चयात्मक ज्ञानके प्रति कारण नहीं हो सकता है।

लोक-यवहारमें देखनेमें आता है कि बहुशः वेदान्त-वाक्य श्रवण करनेपर भी ब्रह्म साक्षात्कार उत्पन्न नहीं होता है। अपूर्व विधिवादीके इस कथनके उत्तरमें नियम विधिवादीने कहा है कि सहकारी नहीं रहनेके कारण बहुशः वेदान्त-वाक्य श्रवण रहनेपर भी ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता है। जहाँ सहकारी कारण-समूह समग्ररूपसे अवस्थान करता है उस स्थलमें वेदान्त-वाक्य श्रवण करनेसे ब्रह्म साक्षात्कार अवश्य ही उत्पन्न हो जायगा। इसलिए अपूर्व विधिवादी द्वारा प्रदर्शित अन्वय व्यभिचार भी नियम विधिवादियोंके अनुसार[२] उचित नहीं है। वामदेव ऋषिने जन्मान्तरमें वेदान्त-वाक्य श्रवण किया था और उन्हें पूर्व-जन्मका वृतान्त पूर्णरूपसे स्मरण था और इसके फलस्वरूप इस परवर्ती-जन्ममें वेदान्त-वाक्य नहीं श्रवण करनेपर भी उन्हें ब्रह्म-साक्षात्काररूप

---

१. विचारमात्रस्य विचार्यनिर्णयहेतुत्वस्य ब्रह्मप्रमाणस्य तत्साक्षात्कारहेतुत्वस्य च प्राप्तौ विचारितवेदान्तशब्दज्ञानरूपस्य श्रवणस्य तद्धेतुत्वप्राप्तेः।
सि० पृ० १६

२. जातिस्मरस्य जन्मान्तरश्रवणात् फलसम्भवेन व्यतिरेकव्यभिचाराभावात्।
सि० पृ० १७

फल उत्पन्न हुआ था। इसलिए अपूर्व विधिवादियों द्वारा प्रदर्शित व्यतिरेक-व्यभिचारका कोई अवसर नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाय कि ब्रह्म साक्षात्काररूप कार्य फल विद्यमान है और वेदान्त-वाक्य श्रवण नहीं है तब तो सदाके लिए व्यभिचार दोष आपतित हो जायगा और इससे व्यभिचार दोष रहनेके फलस्वरूप वेदान्त-वाक्य श्रवण ब्रह्म साक्षात्कारका कारण ही नहीं हो सकेगा जो स्पष्टतः श्रुति विरुद्ध होगा। बृहदारण्यक उपनिषत्में जो वेदान्त-वाक्य-श्रवणको ब्रह्मसाक्षात्कारके साधनरूपमें निर्देश किया गया है वह भी व्यर्थ हो जायगा। ब्रह्मसाक्षात्कार अगर वेदान्त-वाक्य श्रवण विना ही संभव हो जाय तब तो श्रुति भी उस स्थितिमें वेदान्त-वाक्य श्रवणको ब्रह्म-साक्षात्कारके हेतु रूपमें प्रतिपादन नहीं कर सकेगी।

इसमें और भी बात यह है कि घटके साक्षात्कारमें जैसे चक्षुरिन्द्रिय साधन है वैसे ही त्वगिन्द्रिय भी साधन है। द्रव्यका प्रत्यक्ष जैसे चक्षुरिन्द्रियके द्वारा होता है वैसे ही त्वगिन्द्रियके द्वारा भी होता है। यही वैशेषिक दार्शनिक स्वीकार करते हैं। पूर्वोक्त स्थितिमें घटके साक्षात्कारमें चक्षुरिन्द्रियके अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय भी जैसे साधन है वैसे ही ब्रह्म साक्षात्कारमें भी वेदान्त-वाक्य श्रवणके अतिरिक्त और कोई उपायान्तर विद्यमान है—यह शंका तो संभावित हो जायगी। इसलिए अपूर्व विधिवादियोंने जो व्यतिरेक व्यभिचार प्रदर्शन किया है उसका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। फलतः व्यतिरेक व्यभिचार भी ब्रह्म साक्षात्कारमें वेदान्त-वाक्य श्रवणकी कारणताका विघटन नहीं हो सकता है।[1] इसलिए नियम विधिवादी कहना चाहते हैं कि ब्रह्म-

१. कारण रहनेसे कार्य रहना अन्वय है। कारण नहीं रहनेसे कार्य नहीं रहना व्यतिरेक है। अन्वय एवं व्यतिरेकके द्वारा कार्य कारण भाव निश्चित होता है। इसमें ध्यान देनेकी बात यहीं है कि कारणके भावसे कार्यका भाव अवश्य होगा ऐसा कोई नियम नहीं है। अगर कोई प्रतिबन्ध रह जाय तब कारण रहनेपर भी कार्य उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार अन्वय व्यभिचार कारणके रहनेपर भी कार्यका नहीं रहना इसके द्वारा कारणताका विघटन नहीं होता है। परन्तु कार्य विद्यमान है और उसका अभिप्रेत कारण विद्यमान नहीं है ऐसा कभी नहीं हो सकता है। यदि ऐसा

साक्षात्कारमें वेदान्त-वाक्य श्रवणकी कारणता अप्राप्त नहीं है। अगर प्रमाणान्तरके द्वारा पूर्वोक्त कारणता अप्राप्त होती तब तो इस स्थलमें अपूर्व विधि स्वीकार करनेका अवसर रहता। अतः वेदान्त-वाक्य श्रवणमें नियमविधि स्वीकार करना उचित है।

फिर, ब्रह्मसूत्र ४।१।१-'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस आवृत्यधिकरणके शांकर भाष्यमें कहा है कि श्रवणादिका पर्यवसान ब्रह्मसाक्षात्कार है। जबतक ब्रह्म साक्षात्कार उत्पन्न नहीं होता है तबतक श्रवणादिकी आवृत्ति पुनः-पुनः अनुष्ठान करनेका इसमें उपदेश दिया गया है इसलिए स्पष्ट है कि श्रवणादिका प्रयोजन-फल-दृष्ट है। यदि इसका फल दृष्ट नहीं होता है तब तो ब्रह्म-साक्षात्कार जब तक उत्पन्न नहीं होता है तब-तक श्रवणादिकी आवृत्ति करनेका उपदेश नहीं दिया जाता। जैसे व्रीहीन-वहन्ति इस नियम-विधिके स्थलमें जब तक तण्डुलकी निष्पत्ति नहीं होती है तब तक अवघातकी आवृत्ति करनेका उपदेश दिया गया है। अतः जिस प्रकार अवघातादि नियम-विधिके स्थलमें दृष्ट प्रयोजन रहनेके कारण उसकी आवृत्तिका उपदेश दिया गया है उसी प्रकार श्रवण-विधिमें भी समझना चाहिए। श्रवणका प्रयोजन-फल है ब्रह्म साक्षात्कार और यह दृष्ट फल है। इसलिए, जिस प्रकार दर्शपूर्णमासयागका अनुष्ठानके सम्बन्ध-में व्रीहीनवहन्ति इस प्रसिद्ध नियम-विधिके स्थलमें तण्डुल निष्पत्तिके लिए अवघातकी आवृत्तिका उपदेश दिया गया है उसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कारके लिए श्रवणादिकी आवृत्तिका उपदेश किया गया है, तब श्रवणादि भी नियम-विधिका स्थल है यही समझना चाहिए। क्योंकि श्रवणमें पूर्वोक्त अवघात न्याय जब तक तण्डुल निष्पन्न नहीं होता है तब तक अवघात करना चाहिए—की प्राप्ति होनेके कारण श्रवणादिमें नियम-विधि स्वीकार करना चाहिए।

यदि श्रवणादिमें अपूर्व-विधि अभिप्रेत होता तब तो जब तक ब्रह्म साक्षात्कार उत्पन्न नहीं होता है तब तक श्रवणादिकी आवृत्ति करनेका

हो तो यही समझना चाहिए कि जिसे कारणरूपमें स्वीकार किया गया है वस्तुतः वह कारण ही नहीं है। कार्य विद्यमान है और कारण विद्यमान नहीं है तो उसे व्यतिरेक व्यभिचार कहते हैं। इसलिए व्यतिरेक व्यभिचार कारणताका विघटक है।

उपदेश नहीं दिया जाता। इसलिए, श्रवणादिमें अपूर्व-विधि स्वीकार करनेसे 'श्रवणादिका पुनः-पुनः अनुष्ठान करनेका उपदेश उपपन्न नहीं हो सकेगा, जैसे सर्वौषधिके अवघातके समयमें कहा गया है।'[1]

आशय यह है कि जैमिनि-सूत्रके अग्नि प्रकरणमें कहा गया है कि ऊखलमें सब औषधियोंको भरकर अवघात करना चाहिए। इसके बाद उस ऊखलका स्थापन करें। यहाँ ऊखलमें सर्वौषधि को भरकर जो अवघात करनेके लिए कहा गया है—वह अवघात ऊखलका संस्कारके लिए अपेक्षित है। यही संस्कार उस अवघातका प्रयोजन है। संस्कार अतीन्द्रिय है। अतः इस स्थलमें अवघात करनेका कोई भी दृष्ट प्रयोजन नहीं है जैसे तण्डुल-निष्पन्न करनेके सम्बन्धमें है और इसलिए अवघातका दृष्ट-प्रयोजन नहीं रहनेके कारण उसको आवृत्तिका उपदेश नहीं दिया गया है। इसलिए सर्वौषधिके अवघातक स्थलमें अपूर्व-विधि है। नियम-विधि नहीं। परन्तु, श्रवणका विषय भिन्न-विलक्षण है अतः यहाँ नियम-विधि स्वीकार करना चाहिए, जैसे व्रीहिके अवघात स्थलमें किया गया है। इस प्रकार जैमिनि-प्रणीत पूर्व मीमांसा सूत्रके ग्यारहवें अध्यायमें विचार किया गया है। इस अध्यायका नाम है 'तन्त्रलक्षण।'[2] इसलिए श्रोतव्यमें नियम-विधि स्वीकार करना चाहिए।

फिर, यदि श्रोतव्यमें नियम-विधि नहीं स्वीकार किया जाय तब तो असमंजस हो जायगा। जिस प्रकार किसी वस्तुका चक्षुरिन्द्रियके द्वारा निरीक्षण करनेवाला पुरुष, किसी अन्य पुरुषके कहनेपर अपनेसे अदृष्ट उस वस्तुकी अन्य सूक्ष्म विशेषताका परिज्ञान करनेके लिए पुनः वह पुरुष प्रणिधानके साथ अपने चक्षुरिन्द्रियके व्यापारमें प्रवृत्त होता है—वैसे ही मनके द्वारा अहं रूपसे गृहीत जीवमें 'स्वाधायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधिके द्वारा ज्ञात वेदान्त-वाक्यसे उपदिष्ट निर्विशेष ब्रह्मचैतन्यस्वरूपताका परोक्षज्ञान करनेके बाद उसी निर्विशेष स्वरूपके अपरोक्ष परिज्ञानके लिए अवधानके साथ मनके ही प्राणिधानमें कदाचित् पुरुष प्रवृत्त

१. अपूर्वविधित्वे तु स न सङ्गच्छते, सर्वौषधावघातवत्। सि० पृ० १८

२. 'लक्षण' शब्दका अर्थ है अध्याय और तन्त्र शब्दका अर्थ है एक ही बारके अनुष्ठानसे वह उपकार रूप फलकी उत्पत्ति, जैसे प्रदीपको जलानेसे अंधकार विनाश, अध्ययन, पाक, आदि।

हो जायगा। और उस स्थितिमें वेदान्त-वाक्य के श्रवणमें प्रवृत्ति पाक्षिक होगी—उस पक्षमें ब्रह्म साक्षात्कारके लिए वेदान्त-वाक्य श्रवणको प्राप्ति नहीं रहेगी। मनके द्वारा हो वह जीवका निर्विशेष ब्रह्मचैतन्य रूपत्व दर्शन करनेके लिए प्रवृत्त हो जायगा।

इसमें शंका हो सकती है कि मनके द्वारा निर्विशेष ब्रह्म चैतन्य स्वरूपत्वका साक्षात्कार संभव नहीं है क्योंकि श्रुतिकी उक्ति है-'अप्राप्य मनसा सह'। इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'[1] मनके द्वारा ही ब्रह्मसाक्षात्कार करना चाहिए, फिर 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया', एकाग्र बुद्धिके द्वारा ही निर्विशेष ब्रह्मचैतन्यका साक्षात्कार होता है—इस रूप श्रुति भी तो विद्यमान है और इस रूप शंका होना सर्वथा सम्भव है कि जहाँ मनके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारका निषेध किया गया है उसका आशय है कि जिसका अनवहित मन है उसे ही लक्ष्य कर श्रुतिने 'अप्राप्य मनसा सह' कहा है। इसका परिणाम यही होगा कि निर्विशेष ब्रह्म चैतन्य साक्षात्कारमें जब पुरुष अवधानके साथ अपने मनके द्वारा पूर्वोक्त साक्षात्कार करनेके लिए प्रवृत्त हो जायगा तब तो उस स्थितिमें वेदान्त श्रवणमें प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए 'श्रोतव्य' स्थलमें नियम-विधि स्वीकार करना उचित है। इसका फल यही होगा कि जो पुरुष मनके द्वारा पूर्वोक्त साक्षात्कार करनेके लिए प्रवृत्त है उसे निवृत्त कराकर वेदान्त श्रवणमें ही नियम-विधि प्रवृत्त करा देगी जैसे व्रीहिके अवघातके स्थलमें प्रदर्शन किया गया है।[2]

---

१. बृ० उ० ४।४।१९

२. अग्निचयने—'सर्वौषधस्य पूरयित्वाऽवहन्ति अथैतदुपदधाति' इत्युपधेयोखसंस्कारार्थत्वेन विहितस्याऽवघातस्य दृष्टार्थत्वाभावात् नाऽऽवृत्तिरिति हि तन्त्रलक्षणे (११।१।६) स्थितम्, अतो नियमविधिरेवाऽयम्। तदभावे हि यथा वस्तु किञ्चिच्चक्षुषा वीक्षमाणस्तत्र स्वागृहीते सूक्ष्मे विशेषान्तरे केनचित् कथिते तदवगमाय तस्यैव चक्षुषः पुनरपि सप्रणिधानं व्यापारे प्रवर्तते, एवं मनसा 'अहम्' इति गृह्यमाणे जीवे वेदान्तैरध्ययनगृहीतैरुपदिष्टं निर्विशेषब्रह्मचैतन्यरूपत्वमाकर्ण्य तदवगमाय तत्र सावधानं मनस एव प्राणिधाने कदाचित् पुरुषः प्रवर्ततेति वेदान्तश्रवणे प्रवृत्तिः पाक्षिकी स्यात्। 'अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतिः' मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया' इत्यपि श्रवणेनाऽवहितमनोविषयेति शङ्कासम्भवात्। सि० पृ० १८-१९

नवम अध्याय

मैत्रेयी-ब्राह्मण

पूर्वानुवृत्ति

प्रकारान्तरमें भी श्रोतव्य-स्थलमें नियम-विधि स्वीकार करना उचित है—यही प्रतिपादन कर रहे हैं। श्रुतिमें कहा गया है कि महान् ऋषियोंके द्वारा सेवित जीवात्म भिन्न ईश्वरके स्वरूपको जब प्रत्यक्ष करता है तब ईश्वरकी महिमाको प्राप्त करता है और शोकरहित हो जाता है। इस प्रकार श्रुति-वाक्यके द्वारा 'जीव-भिन्न आत्माके ज्ञानसे मुक्ति हो सकती है'—ऐसा भ्रम सम्भव है। इसके फलस्वरूप 'मुक्तिके साधन'—ज्ञानके लिए जीव-भिन्न आत्माके विचार-रूप जो शास्त्रान्तरका श्रवण है उसमें भी पक्षान्तरमें प्रवृत्ति हो सकती है और उस स्थितिमें अद्वैत आत्म-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्य श्रवणकी अप्राप्ति हो जायगी। इसलिए, भ्रमसे शास्त्रान्तरके विचारमें प्रसक्त प्रवृत्तिका निराकरणके लिए 'श्रोतव्य'में नियम-विधि स्वस्वीकार करना उचित है।

प्रकृतमें 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादि प्रसंगमें जो आत्माका उल्लेख है वह आत्मा जीवके साथ अभिन्न और अद्वितीय है। क्योंकि, इस प्रसंगमें 'इदं सर्वं यदयमात्मा'—यह सब जो देखनेमें आता है वह सभी आत्मा है—इस रूप उक्ति उपनिषद्में कहा गया है। अतएव 'आत्मा वा अरे' इत्यादि प्रकरणकी पर्यालोचन करनेसे यह स्पष्ट होता है कि यह अद्वितीय आत्माका प्रतिपादक है।

इसमें प्रश्न हो सकता है कि अवघात-स्थलमें तण्डुलकी निष्पत्ति अवघातसे भी होती है और नख-विदलनसे भी; इसलिए, नख-विदलनादि उपायकी निवृत्तिके लिए अवघातमें नियम-विधि मानना उचित है; परन्तु, प्रकृत-स्थलमें अद्वैत आत्माके साक्षात्कारमें जीव-भिन्न आत्माका विचार तो यथार्थतः साधन ही नहीं है। इसलिए, अवघातादिके साथ उसका वैलक्षण्य रहनेके कारण अद्वितीय आत्माके साक्षात्कारमें जीव-

भिन्न आत्माके विचारको निवृत्त करानेके लिए 'श्रोतव्य' स्थलमें नियम-विधि स्वीकार करनेका तो कोई अवसर नहीं है।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'वस्तु सत् साधनान्तरकी प्राप्तिमें ही नियम-विधि होगी—यह नियम-विधिका कुलधर्म नहीं है। और इससे इस रूप शंकाका भी कोई अवसर नहीं है कि वेदान्त-वाक्य-श्रवणमें स्वीकृत नियम-विधिको प्रजोजनवान् सिद्ध करनेके लिए 'श्रोतव्य'में नियम-विधि स्वीकार करनेके कारण अदृष्ट उत्पन्न हो जायगा जो अदृष्ट अद्वैत-ब्रह्म-साक्षात्कारके प्रतिवन्धक पापकी निवृत्तिके द्वारा सत्ता-निश्चयात्मक ब्रह्मके अपरोक्ष-साक्षात्कारका एक-मात्र साधन वेदान्त-वाक्य-श्रवण ही है—इस प्रकार स्वीकार करना पड़ेगा। इससे जीव-भिन्न आत्माका ज्ञान सत्ता-निश्चय-रूप ब्रह्मके साक्षात्कारका वस्तुतः साधन नहीं होनेके कारण श्रोतव्य स्थलमें नियम-विधि-स्वीकार करना युक्ति संगत नहीं है।

परन्तु, जहाँ साधनान्तर-रूपमें संभवमान होनेके कारण जिस पक्षमें प्राप्ति हो सकती है और इस स्थितिमें जिसका साधनरूपमें विधान अभिप्रेत है उसका अगर पाक्षिक अप्राप्ति-निवारण करनेका कोई उपाय नहीं है तब उस स्थितिमें अवश्य ही नियम-विधि स्वीकार की जायगी। क्योंकि, इसके द्वारा ही अप्राप्तांश-परिपूर्ण-रूप फलकी सिद्धि हो जाती है। यह पहले ही कहा गया है कि अप्राप्तांशको परिपूर्ण करा देना ही नियम-विधिका फल है।

नियम-विधिवादी और भी युक्ति प्रदर्शन किये हैं। उनके कथनका आशय यह है कि गुरुमुखसे वेदान्त-वाक्यका अध्ययनके बाद जैसे सत्ता निश्चय रूप ब्रह्म विषयक अपरोक्ष साक्षात्कार उत्पन्न हो सकता है वैसे ही व्युत्पन्न पुरुषको केवल अपने प्रयत्नसे किये गये वेदान्त विचारसे भी सत्ता निश्चय रूप ब्रह्म विषयक अपरोक्ष साक्षात्कार संभव है। परन्तु गुरुमुखाधीन वेदान्त-वाक्यके अध्ययन श्रवणमें नियम विधि-स्वीकार किया गया है। इसमें विशेष प्रयोजन है—नियम-विधिजन्य अदृष्टका उत्पन्न होना। वह अदृष्ट अविद्या निवृत्तिके प्रति पाप निवारणके द्वारा उप-योगिता लाभ करता है। इसलिए गुरुमुखाधीन वेदान्त-वाक्य श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार किया गया है।

परन्तु जिस व्युत्पन्न-पुरुषने अपने प्रत्ययमात्रके द्वारा वेदान्त विचार का निष्पादन किया है, उसमें नियम विधि-स्वीकारजन्य अदृष्ट उत्पन्न नहीं हो सकता है और फलतः पाप रह जानेके कारण अविद्याको निवर्त्तित नहीं कर सका है। इस स्थितिमें पूर्वोक्त व्युत्पन्न पुरुषका अपने प्रयत्नमात्रके द्वारा साध्य वेदान्त विचारसे उत्पन्न ब्रह्मज्ञान परोक्ष ज्ञानके सदृश्य ही अवस्थान करता है। वैसे ज्ञानको ब्रह्म साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता है। इसलिए 'श्रोतव्य' स्थलमें गुरुमुखाधीन वेदान्त-वाक्य श्रवणमें ही नियम-विधि किया गया यही समझना चाहिए और उसके फल स्वरूप अपने प्रयत्न-मात्रके द्वारा वेदान्त-वाक्य विचारसे ब्रह्म साक्षात्कार करनेके विषयमें वह निवृत्त हो जायगा।[1]

इसमें प्रश्न होता है कि व्युत्पन्न व्यक्तिके अपने प्रयत्नमात्रके द्वारा साध्य जो वेदान्त-वाक्य विचार है उससे उत्पन्न ब्रह्म विषयक ज्ञान तो अज्ञानकी निवृत्ति नहीं कर सकती है—इस रूप नियम-विधिवादियोंका कथन तो अनुचित है। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न हुआ है और अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई है—यह तो किसी भी स्थितिमें नहीं हो सकती है। ज्ञान उदय लाभ करनेसे अज्ञानकी अनिवृत्ति किसी भी रूपमें उपपन्न नहीं हो सकती है।

इसके उत्तरमें नियम-विधिवादी पूर्वपक्षीके कथनको अनुचित सिद्ध करते हैं। उनका आशय यही है कि कार्य उत्पत्तिके प्रति प्रतिबन्धकका अभाव सर्वत्र अपेक्षित है। कारणके रहनेपर भी अगर प्रतिबन्धक रहे तो कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसके दृष्टान्त स्वरूप प्रतिविम्ब भ्रमको लिया जा सकता है। ग्रीमास्थमुख जब दर्पण रूप उपाधिमें प्रतिबिम्बित होता है तब मुखका प्रत्यक्षतः ज्ञान रहनेपर भी जब तक दर्पण रूप उपाधि विद्यमान रहता तब तक ग्रीमास्थमुख दर्पणमें ही मालूम

१. अथवा गुरुमुखाधीनाध्ययनादिव निपुणस्य स्वप्रयत्नमात्रसाध्यादपि वेदान्त-विचारात् सम्भवति सत्तानिश्चयरूपं ब्रह्मपरोक्ष ज्ञानम्, किन्तु गुरुमुखाधीन-वेदान्तवाक्यश्रवणनियमादृष्टमविद्यानिवृत्तं प्रति कल्मषनिरासेनोपयुज्यत इति तदभावेन प्रतिबद्धमविद्यामनिवर्तयत् परोक्षज्ञानकल्पमवतिष्ठते।

सि० पृ० २२

पड़ता है इस स्थितिमें प्रतिबन्धक दर्पण रूप उपाधि विद्यमान रहनेके कारण मुखका प्रत्यक्ष ज्ञान रहनेपर भी उसके कार्य प्रतिबिम्ब भ्रमकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार व्युत्पन्न व्यक्तिके अपने प्रयत्नमात्रके द्वारा साध्य वेदान्त-वाक्य विचारके सम्बन्धमें भो समझना चाहिए । कारणके भाव रहनेपर भी यदि प्रतिबन्धक रह जाय तब कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है । इसलिए, श्रोतव्यमें नियम-विधि मानना ही स्थिर सिद्धान्त है ।

इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति स्वलिखित वेदका पाठ करना आरम्भ करे तब, उस स्थितिमें वेदाध्ययनकी प्राप्ति होनेके कारण जैसे यह नियम किया गया है कि गुरुमुखाधीन ही स्वाध्यायको अध्ययन करना चाहिए, स्वलिखित स्वाध्याय पाठ नहीं करना चाहिए, वैसे ही अपने प्रयत्नमात्रके द्वारा जो वेदान्त विचार करना चाहते हैं तथा उसीके द्वारा सत्ता निश्चय रूप ब्रह्म-साक्षात्कार भी करना चाहते हैं उस स्थितिमें गुरुमुखाधीन वेद-वाक्य श्रवणमें ही नियम-विधि किया गया है यह पहले ही कहा जा चुका है कि नियमजन्य जो अदृष्टकी उत्पत्तिसे प्रतिबन्धक अपनयनके द्वारा वह सत्ता निश्चय रूप-ब्रह्म साक्षात्कारको उत्पादन करेगा ।

प्रश्न होता है कि श्रुतिमें इस रूप कहा गया है कि वेदार्थका जाननेके लिए गुरुके पास ही जाना चाहिए—इस रूप विधि विद्यमान है और गुरूपगमनकी विधिके द्वारा गुरुरहित वेदान्त-विचारका निषेध जब सिद्ध हो जाता है तब तो श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार करना निष्फल है। क्योंकि, पूर्वोक्त अध्ययनके लिए गुरुके समीपमें जानेकी जो विधि है उसके द्वारा ही गुरुरहित वेदान्त-वाक्य विचारका निषेध तो सिद्ध होता ही है—इस रूप शंका नहीं करनी चाहिए। गुरूपगमनकी विधि श्रवणका अंग है । गुरुके पास जानेका तात्पर्य है श्रवण । इसलिए श्रवण अंगी है एवं गुरूपगमन अंग है । इस स्थितिमें श्रवण रूप अंगीमें अगर विधि स्वीकार नहीं की जाय तब तो गुरूपगमनमें भी विधि नहीं हो सकती है। इससे गुरूपसदन-विधिके द्वारा श्रवण-विधिकी निष्फलताकी प्रसक्ति नहीं है । यदि इसे स्वीकार नहीं किया जाय तब तो अध्ययनके अंगभूत जो गुरुपगमन विधि है उसीके द्वारा ही स्वलिखित

पाठादिका निषेध संभव हो जानेसे वेदाध्ययनमें स्वीकृत नियम-विधि भी निष्फल हो जायगी। इसलिए वेदान्त-वाक्य श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार करना उचित है।

प्रकारान्तरमें आचार्यगण श्रवणमें नियम-विधिका उपपादनकर रहे हैं। अद्वैत आत्मतत्त्वके प्रतिपादक भाषा-प्रबन्धके श्रवणका पक्षमें प्राप्ति होनेके कारण उसकी निवृत्तिके लिए वेदान्त-वाक्य-श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार किया जायगा।

प्रश्न हो सकता है कि जब श्रुतिकी उक्ति 'न म्लेच्छितवै'—म्लेच्छ-भाषाके शब्दका उच्चारण नहीं करना चाहिए। इस निबोधसे ही तो अद्वैत आत्माके प्रतिपादक भाषा-प्रबन्धके श्रवणकी प्राप्ति नहीं होगी और इसलिए भाषा-प्रबन्धके श्रवणकी निवृत्तिके लिए वेदान्त-वाक्य-श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि शास्त्रमें व्युत्पत्तिकी मान्यता-प्रयुक्त वेदान्त-वाक्य-श्रवण सामर्थ्यके बाहर है इस रूप अवधारण करके 'न म्लेच्छितवै' इत्यादि जो पुरुषके लिए "म्लेच्छ' शब्द उच्चारण-निषेध किया गया है उस निषेधको उल्लंघन करके भी अद्वैत आत्माकी जिज्ञासा करनेवाले पूर्वोक्त पुरुष भाषा-प्रबन्धमें भी प्रवृत्त हो सकता है; और इसलिए उसकी निवृत्ति करानेके लिए वेदान्त-वाक्य-श्रवणमें जो नियम-विधि स्वीकार किया गया है उसका प्रयोजन उपपन्न होता है।

फिर, प्रश्न हो सकता है कि पुरुषार्थं रूप अनृत-वदननिषेधके रहनेपर पुरुष कैसे उसका उल्लंघन कर सकता है ? और 'न म्लेच्छितवै' इत्यादि शास्त्र-निषेधका उल्लंघन करके भाषा-प्रबन्धके द्वारा अद्वैत आत्म-तत्त्वका जिज्ञासु पुरुषकी भाषा-प्रबन्धमें प्रवृत्ति हो सकती है इस रूप नियम-विधिवादीका कथन तो संगत नहीं मालूम होता है। क्योंकि, पुरुषार्थके लिए श्रुतिने जिसे निषेध किया है उसका पुरुष लंघन करता है—इसका प्रमाण कहाँ है ?[1]

---

१. अथवा अद्वैतात्मपरभाषाप्रबन्धश्रवणस्य पक्षे प्राप्त्या वेदान्तश्रवणे नियम-विधिरस्तु। न च 'न म्लेच्छितवै' इत्यादिर्निषेधादेव तदप्राप्तिः शास्त्र-व्युत्पत्तिमान्द्यात् : वेदान्तश्रवणमशक्यमिति पुरुषार्थनिषेधमुल्लङ्घ्याऽपि

इसके उत्तरमें नियम-विधिवादी कहते हैं कि पूर्वमीमांसाके कर्त्रधिकरणपर ध्यान देनेसे ही यह विषय स्पष्ट हो जायगा। क्योंकि वहाँ पुरुषार्थके लिए अनृतवदनका निषेध पहलेसे रहनेपर भी दर्शपूर्णमास-यागका अनुष्ठानके समय अनुष्ठानकर्त्ता किसी कारणवश अनृतवदन नहीं करें। इस रूप अंगीकार करके भी उसका उल्लंघन कर सकता है। क्योंकि उसके उल्लंघन करनेसे अविकल-रूपसे दर्शपूर्णमास-यागकी सिद्धि हो जायगी। इस कामनासे पुरुष अनृतवदनमें प्रवृत्त हो सकता है। बात तो यह ठीक हैं कि दर्शपूर्णमास-यागका अनुष्ठानकर्त्ता 'नानृतं वदेत्' को अंगीकार करके भी उस यागकी अविकल निष्पत्तिके लिए किसी कारणवश अनृतवदन अनिवार्य हो जानेपर अनृतवदनमें प्रवृत्त हो सकता है और इसलिए दर्शपूर्णमास प्रकरणमें फिर भी 'नानृतं वदेत्'—इस रूप निषेध उपलब्ध होता है। यह निषेध क्रतुका उपकारक है। पुरुषार्थरूप अनृतवदन-निषेधके लघनकी सम्भावना रहनेपर भी क्रत्वर्थ अनृतवदन-निषेधका लंघन करना सम्भव नहीं है। इस दृष्टान्तके द्वारा यहीं साबित किया गया है कि कभी पुरुष पुरुषार्थ-निषेधको लंघन भी कर सकता है। यदि वह यह सोचे कि इस लंघनसे कोई अधिकतर इष्ट-लाभ होगा।

नियम-विधिवादीगण पुनः प्रकारान्तरमें नियम-विधि व्यवस्थापन कर रहे हैं। पूर्व मीमांसा १।२।४ में इस रूप आम्नात हुआ है कि मन्त्रके द्वारा हो मन्त्र-प्रतिपाद्य-विषयका स्मरण करना चाहिए। अनुष्ठानके समयमें अनुष्ठानका अपेक्षित द्रव्यका स्मरण मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही किया जाता है। इसलिए, मन्त्रके द्वारा ही मन्त्र-प्रतिपाद्य-वस्तुका स्मरण करना चाहिए—इस रूप नियम-स्वीकार किया गया है। इस प्रकार नियम स्वीकार करनेका प्रयोजन यही है कि मन्त्रमूलक-कल्पसूत्र एवं आत्मीय-ग्रहणक-संक्षिप्त-वाक्य इत्यादिके द्वारा कहीं अनुष्ठानमें मन्त्रके द्वारा प्रतिपाद्य-वस्तुका स्मरण नहीं करें, क्योंकि पूर्वोक्त नियम नहीं रहनेसे परवर्त्ती इन सबोंके द्वारा भी अनुष्ठानमें अपेक्षित पदार्थोंका स्मरण पक्षमें प्राप्त हो जायगा। इसलिए ही 'मन्त्रैरेव' इत्यादिके द्वारा

साषाप्रबन्धेनाऽद्वैतं जिज्ञासमानस्य तत्र प्रवृत्तिसम्भवेन नियमविधेरर्थवत्त्वोपपत्तेः। सि० पृ० २५-२६

इस स्थलमें नियम-विधि स्वीकार किया गया है। इस तरह वेदान्त-वाक्यमूलक इतिहास, पुराण और पुरुष-विरचित प्रबन्धके श्रवणमें भी पक्षमें प्राप्तिकी संभावना रहनेके कारण ब्रह्म-साक्षात्कारके लिए वेदान्त-वाक्यका ही श्रवण करना चाहिए। इस प्रकार वेदान्त-वाक्य-श्रवणमें नियम-विधि-स्वीकार किया जायगा। अतः श्रवणमें सर्वथा नियम-विधि ही है—यही स्वीकार करना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि 'सहकार्यन्तरविधि[१]' इत्यादि अधिकरणके शांकर-भाष्यमें तो वेदान्त-वाक्य-श्रवणमें अपूर्व-विधि स्वीकार किया गया है। अतः श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार करना अनुचित है, कारण इससे तो भाष्यकी उक्तिके साथ विरोध हो जायगा।

इसके उत्तरमें विवरणानुसारी आचार्यगण कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्त-स्थलमें नियम-विधि स्वीकार करना ही भाष्यकारका अभिप्रेत है। भाष्यकारने जो अपूर्व-विधिकी बात उठायी है उसका आशय है पक्षमें अप्राप्ति-प्रदर्शन। अपूर्व विधि भी अप्राप्तदशामें ही स्वीकार की जाती है। अतएव, पूर्वोक्त स्थलमें अपूर्व विधिकी बात उठाकर भाष्यकारने पाक्षिक अप्राप्तिमात्र प्रदर्शन किया है। यही भाष्यकारका अभिप्राय है। और उस स्थलमें 'सहकार्यान्तरविधिः' अदित सूत्रमें व्यवहृत 'पक्षेण' शब्दकी योजना इस सूत्र पदकी पाक्षिक अप्राप्ति स्वीकार करके ही की गयी है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा प्रबन्धादिको निषेध करनेके लिए वेदान्त-वाक्य श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार किया गया है। इसे ही विवरणानुसारी ऐकदेशी आचार्यके मतानुसार प्रकारान्तरमें प्रतिपादन किया जा रहा है। भाषा प्रबन्धादि शब्दात्मक है इसे स्वीकार करनेमें किसीको भी आपत्ति नहीं हो सकती है। अब बात यही है कि जिस पुरुषने वेदान्त-वाक्यका श्रवण किया है उसे प्रथमतः शब्दसे निश्चयात्मक परोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है, कारण शब्दका स्वभाव है परोक्षज्ञान उत्पादन करना और जिसका जो स्वभाव है उसका वह लंघन नहीं कर सकता है। इसलिए, शब्दात्मक वेदान्त

१. ब्र० ३- ४- १४- ४७

वाक्यके श्रवणसे परोक्षज्ञान ही उत्पन्न हो जायगा'श्रवणके पश्चात् जिस पुरुषने मनन एवं निदिध्यासन किया है उसे शब्दसे ही अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इसका कारण यही है कि मनन एवं निदिध्यासन अपरोक्षज्ञान उत्पादन करनेमें सहकारी कारण है।

सहकारी कारण शून्य होकर जो कारण अपने कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है, वही सहकारीसे युक्त होकर उसी कार्यको उत्पन्न करनेमें समर्थ हो जाता है। जैसे शब्दात्मक वेदान्त-वाक्यका श्रवण अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होने पर भी जब मनन एवं निदिध्यासन रूप सहकारी विशेषके द्वारा सम्पन्न होता है तब उसी शब्दात्मक वेदान्त वाक्यके श्रवणसे अपरोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है। इसमें प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षको दृष्टान्त रूपमें उपस्थापन किया गया है। प्रत्यभिज्ञा प्रत्ययका आकार है—'सोऽयंदेवदत्तः' यह वही देवदत्त है। इस स्थलमें 'सः' अंश परोक्ष देवदत्तको समझा रहा है। कारण तत् शब्दका अर्थ है परोक्ष एवं 'अयं' अंश प्रत्यक्ष देवदत्तको समझा रहा है। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षमें दार्शनिकोंकी परिभाषाके अनुसार तत्ताविशिष्ट इदन्ताका ऐक्य भासमान होता है।

इस स्थलमें प्रश्न होता है कि देवदत्तके साथ पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा प्रत्ययमें जो तत्तांश है वह तो परोक्ष है, उसके साथ तो चक्षुरिन्द्रियका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि चक्षुरिन्द्रिय तत्तांश विषयक -वह देवदत्तमें प्रत्यक्षज्ञान उत्पादन करनेमें असमर्थ होनेपर भी देवदत्तके अतीत प्रत्यक्षानुभवसे उत्पन्न संस्कार अब सहकारी बन गया है और इससे यही हुआ कि 'सोऽयंदेवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञा प्रत्ययमें केवल चक्षुरिन्द्रिय तत्तांश विषयक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न करनेमें असमर्थ होनेपर भी संस्कारको सहकारी रूपमें लाभ कर वही इन्द्रियप्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा ज्ञान उत्पन्न कर रहा है। यह तो सहकारीकी ही महिमा है। इसी प्रकार प्रकृत स्थलमें भी समझना चाहिए।

आशय यह है कि शब्द स्वभावतः अपरोक्षज्ञान उत्पादन करनेमें असमर्थ होनेपर भी भावना प्रचयरूप सहकारी कारणके रहनेपर वह शब्द ही अपरोक्षज्ञानका उत्पादन कर सकता हैं। भावनाप्रचयके

असाधारण सामर्थ्यको प्रदर्शन करनेके लिए एक दृष्टान्त उपस्थापन किया गया है। यह सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि अन्तःकरण शरीरके अभ्यन्तरस्थ होनेके कारण इन्द्रिय निरपेक्ष होकर वाह्य वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकता है। विषयके साथ जिस इन्द्रियका सम्बन्ध होता है, उसी इन्द्रियको द्वार बनाकर अन्तःकरण विषयाकारमें परिणत होता है—यही स्थूल रूपसे स्वीकार किया जाता है।

इस स्थितिको यह देखनेमें आता है कि विरही व्यक्ति अपनी कान्तासे विमुक्त होकर जब अपनी कान्ताके सम्बन्धमें निरन्तर भावना करता है तब उस व्यक्तिका अन्तःकरण यद्यपि कान्ताका अपरोक्ष साक्षात्कार करानेमें समर्थ नहीं होता तथापि भावना रूप सहकारी कारणसे युक्त होकर वह अन्तःकरणके द्वारा अपनी कान्ताका अपरोक्ष साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाता है। अब यही स्थिति हुई है कि जो शब्द स्वतः अपने विषयमें परोक्षज्ञानका जनक है वही अगर भावना प्रचयरूप सहकारी कारणसे युक्त हो जाय तो वह अपरोक्षज्ञानका जनक हो सकता है। जो ज्ञानका कारण है–कारण विशेष है–वही भावना प्रचय-रूप सहकारी कारणसे युक्त होनेपर अपरोक्ष ज्ञानका जनक होता है, जैसे कान्तासे वियुक्त विरही व्यक्तिके ज्ञानका करण अन्तःकरणमें देखा जाता है। और इससे यही हुआ कि भावना सहकृत शब्दात्मक भाषा प्रबन्धसे भी ब्रह्म साक्षात्कार होनेके कारण उसे व्यावृत्ति करनेके लिए गुरुमुखाधीन वेदान्त-वाक्य श्रवणमें ही नियम-विधि की गयी है। यही विवरणानुसारी एक देशी आचार्योंका अभिमत है।[1]

श्रवण में नियम-विधि-स्वीकार करनेवाले कतिपय आचार्य भिन्न-रूप से युक्ति-प्रदर्शन कर रहे हैं। उन लोगोंका कहना है कि यह ज्ञान तो किसीको हो सकता है कि वेदान्त-वाक्य के श्रवणसे ब्रह्म-साक्षात्कार उत्पन्न नहीं होता है, अपितु मन के द्वारा ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है।

१. ततश्च शब्दस्य स्वतः स्वविषये परोक्षज्ञानजनकत्वस्य भावनाप्रचयसहकृत-ज्ञानकरणत्वावच्छेदेन विधुरान्तःकरणवदपरोक्षज्ञानजनकत्वस्य च प्राप्त-त्वात् पूर्ववन्नियमविधिरिति तदेकदेशिनः।

सि० पृ० २९

क्योंकि, श्रुतिमें कहा गया है कि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'—मनके द्वारा ही साक्षात्कार करना चाहिए। इसमें और भी बात यह है कि भाष्यकार शंकराचार्यने गीता-भाष्यमें कहा है कि शास्त्र एवं आचार्योपदेश, शम, दम, तितिक्षा प्रभृतिके द्वारा संस्कृत मन ही आत्माके साक्षात्कारमें कारण है। जब स्थिति यही है तब यह सिद्ध होता है कि मनके द्वारा ही ब्रह्म साक्षात्कार उत्पन्न होता है। लेकिन, श्रवणका फल है संशय-रहित निश्चयात्मक परोक्षज्ञान। क्योंकि, शब्दके द्वारा यद्यपि अन्यत्र परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है तथापि यह नियम निश्चयात्मक नहीं है। परन्तु, वेदान्त-वाक्य श्रवणसे उत्पन्न परोक्षज्ञान निश्चयात्मक ही होता है। इसलिए, निश्चयात्मक शब्दजन्य परोक्षज्ञानरूप-प्रयोजनके लिए वेदान्त-वाक्य-श्रवणमें नियम-विधि-स्वीकार किया गया है।[1]

कतिपय आचार्यगण भिन्न-रूपसे वेदान्त-वाक्य श्रवणमें नियम-विधि मानते हैं। उनलोगोंका यही कहना है कि श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार करनेका प्रयोजन है। वेदान्त-वाक्य श्रवणसे ही ब्रह्म-विषयक-अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है और इस प्रयोजनको निष्पादन करनेके लिए ही श्रवणमें नियमविधि-स्वीकार किया गया है। वेदान्त-वाक्य-श्रवणका फल जो ब्रह्म-विषयक-अपरोक्ष-साक्षात्कार है। यह बात 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' स्थलमें "द्रष्टव्य" पदसे कहा गया है। "द्रष्टव्य" पदके द्वारा साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही प्रतीत होता है और वेदान्त-वाक्य-से जो अपरोक्षज्ञान होता है वह करणभूत मनकी सहकारी-रूपमें लाभ कर ही वेदान्त-वाक्य-श्रवणसे ब्रह्मका अपरोक्ष-साक्षात्कार हो सकता है। यदि मन सहकारी नहीं रहे तब तो वेदान्त-वाक्य-श्रवणसे

१. इस प्रसंगमें श्रवणमें नियम-विधि उपपादन करानेके लिए अप्पय-दीक्षित द्वारा प्रदर्शित प्राचीन आचार्योंका मत सर्वथा असमीचीन है। वेदान्त-वाक्य-श्रवणके द्वारा ब्रह्म-विषयक-निश्चयात्मक-परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है और इसलिए ही श्रवणमें नियम-विधि है—इस मतको अगर स्वीकार किया जाय तब तो शब्दापरोक्षवाद सर्वथा प्रत्यख्यात हो जायगा। परन्तु, शब्दापरोक्षवाद विवरणाचार्य-सम्मत-सिद्धान्त है और वेदान्त-प्रस्थानमें विवरणाचार्यका स्थान सर्वोच्च है। इसलिए प्रदर्शित उपपादन सर्वथा अनुपादेय है।

साक्षात् अपरोक्षज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि, शब्दसे अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है—यही स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसलिए, वेदान्त-वाक्यका श्रवण यद्यपि साक्षात् ब्रह्म-विषयक अपरोक्ष साक्षात्कारका जनक नहीं है तथापि करण-रूप मनको सहकारी-रूपसे लाभकर वह ब्रह्म-विषयक-अपरोक्षज्ञान उत्पन्न करा सकता है।

इसमें प्रश्न हो सकता है कि मनको सहकारी रूपमें प्राप्तकर वेदान्त-वाक्य-श्रवणसे ब्रह्मका अपरोक्ष-ज्ञान उत्पन्न होना तो किसी भी प्रमाणसे प्राप्त नहीं है। इसलिए यह सर्वथा अप्राप्त होनेके कारण यहाँ अपूर्व-विधि स्वीकार करना उचित है।

पूर्वपक्षोको इस रूप शंका समीचीन नहीं है। क्योंकि, श्रवणेन्द्रियके द्वारा षड्जादिका जब प्रत्यक्ष होता है तब षड्जातिके परस्पर भेदको प्रतीति नहीं होती है। षड्जादिमें आरोपित परस्पर अभेद-रूपता ही प्रतीत होती है। सभी एक सदृश ही प्रतीत होते हैं। यह अभेदरूपता आरोपित-कल्पित है। लेकिन, संगीत-शास्त्रका अभ्यास करनेपर षड्जादिका परस्परका भेद ठीक-ठीक प्रतीत होता है। इसलिए, संगीत-शास्त्रके श्रवणरूप-सहकारीके साथ सहकृत होकर जब श्रवणेन्द्रियके द्वारा षड्जादिका प्रत्यक्ष होता है तब उस स्थितिमें षड्जादिके परस्परके भेदका अपरोक्ष-साक्षात्कार होता है। अतः प्रकाशमान वस्तुमें आरोपित अभेद-प्रतीतका निवर्त्तक अगर कोई शास्त्र विद्यमान रहे तब उस शास्त्रका श्रवण पूर्वोक्त प्रकाशमान वस्तुके साक्षात्कारका जनक जो इन्द्रिय है उसकी सहकारीरूपमें उपयोग लाभ करता है। इससे यही सिद्ध होता है कि करणभूत मनको-सहकारीरूपमें लाभकर वेदान्त-वाक्य-श्रवणसे ही अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है। इस तरह श्रवणमें नियम-विधि-स्वीकार किया गया है। यह मत तथा इसके अव्यवहित पूर्वमें प्रदर्शित—ये दोनों ही शब्दापरोक्षवादके विरोधी हैं।

वेदान्त-वाक्य-समूहका अद्वितीय-ब्रह्ममें तात्पर्य है यह अद्वैतवेदान्ती स्वीकार करते हैं। तात्पर्य-निरूपण करनेमें उपक्रम और उपसंहारका ऐक्य, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उत्पत्तिकी आवश्यकता होती है। छान्दोग्यके षष्ठ अध्यायमें 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इस प्रकार अद्वितीय-ब्रह्मका उपक्रम करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस प्रकार

उपसंहार किया गया है। इसलिए वहाँके सन्दर्भमें वेदान्त-वाक्य-समूहका तात्पर्य उपक्रम और उपसंहारके ऐक्यसे अद्वितीय-ब्रह्ममें ही है। 'तत्त्वमसि' ब्रह्मवाक्यके नौ बार पाठके अभ्याससे अद्वितीय-ब्रह्ममें तात्पर्य माना गया है। 'यं वै सौम्य' इत्यादि अपूर्व-रूप लिंगसे अद्वितीय ब्रह्मका निर्णय होता है। 'तस्य तावदेव' इत्यादिका तात्पर्य भी अद्वितीय-ब्रह्ममें है; क्योंकि, विदेह कैवल्यरूप फलका कथन है। 'अनेन जीवेन'के अर्थवाद-रूप प्रमाणसे अद्वितीय-ब्रह्ममें तात्पर्य निश्चित होता है।

फिर, 'एकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादिकी उपपत्तिसे अद्वितीय-ब्रह्ममें तात्पर्य है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तिगण यह स्वीकार करते हैं कि वेदान्त-वाक्योंका अद्वितीय-ब्रह्ममें तात्पर्य है। इसी तात्पर्यको निश्चय करनेवाला न्यायविचारात्मक चित्तक्रिया विशेषको 'श्रवण' समझना चाहिए। न्याय-विचारके द्वारा ही विचार्य विषयका निर्णय होता है। न्यायोपपन्न विचारके द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि वेदान्त-वाक्योंका अद्वितीय-ब्रह्ममें तात्पर्य है। पूर्वोक्त तात्पर्य-निर्णयके अनुकूल न्यायोपारूढ़ विचारको चित्तकी क्रिया-रूप समझना चाहिए। यही 'श्रवण' शब्दका प्रतिपाद्य अर्थ है। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि वेदान्त-वाक्योंका अद्वितीय-ब्रह्ममें तात्पर्य-निर्णयके अनुकूल न्यायोपारूढ़ जो विचारात्मक चित्तकी क्रिया है यह क्रिया-रूप जो श्रवण है, एतादृश श्रवणका ब्रह्म-विषयक परोक्ष या अपरोक्षज्ञान फल नहीं हो सकता है; क्योंकि; श्रवण तो चित्तकी क्रिया रूप है। ज्ञान अथवा प्रमिति क्रियाका फल नहीं हो सकता है। ज्ञान अथवा प्रमिति तो शब्दादि प्रमाणका फल होता है। इसलिए, वेदान्त-वाक्य-श्रवणके द्वारा ब्रह्म-विषयक परोक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। प्रमाण ही ज्ञान प्रमितिका जनक होता है।[1]

पूर्वपक्षी यहाँ एक शंका उपस्थापन करते हैं। इसे वे भी स्वीकार करते हैं कि—वेदान्त-वाक्य-विचारके द्वारा वेदान्त-वाक्यका तात्पर्य-

१. वेदान्तवाक्यानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यनिर्णयानुकूलन्यायविचारात्मकचेतोवृत्तिविशेषरूपस्य श्रवणस्य न ब्रह्मणि परोक्षमपरोक्षं वा ज्ञानं फलं तस्य शब्दादिप्रमाणफलत्वात्।

सि० पृ० ३२–३३

निर्णय होता है। पूर्वपक्षीके अनुसार तात्पर्य-निर्णयके अनुकूल न्यायोपारूढ़ विचारके द्वारा अवधारित तात्पर्य विशिष्ट-शब्द-जन्य ज्ञान ही 'श्रवण' शब्दका प्रतिपाद्य अर्थ है। ये लोग पूर्वोक्त मानसिक-क्रियारूप श्रवणका अर्थ स्वीकार नहीं करते हैं। अतः पूर्वोक्त-रूप विचारके द्वारा अवधारित तात्पर्यविशिष्ट-शब्दज्ञान ही अगर श्रवण स्वीकार किया जाय तब एतादृश-श्रवणका ब्रह्मज्ञान-रूप फल तो उपपन्न युक्त हो सकता है।

इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रवणको अगर पूर्वोक्त विशिष्ट-शब्दज्ञान-रूप स्वीकार करें तब तो श्रवणमें विधि-स्वीकार करना असम्भव हो जायगा; क्योंकि, ज्ञानमें विधि नहीं हो सकती है। ज्ञान प्रमाणायत्त है, पुरुषायत्त नहीं है। प्रमाणायत्त वस्तुमें विधि नहीं हो सकती है; क्योंकि, विधि रहे अथवा नहीं रहे, प्रमाणकी सत् दशामें प्रमिति ज्ञान उत्पन्न हो जायगी ही। इन्द्रियके साथ अगर विषयका सम्बन्ध हो तब तो उससे प्रत्यक्षज्ञान हो ही जायगा। इसमें विधिकी कोई अपेक्षा नहीं है। पुरुषतन्त्र वस्तुमें ही विधि होती है। इसलिए, श्रवणको अगर ज्ञानरूप स्वीकार किया जाय तब उसमें विधि उपपन्न नहीं हो सकेगी।

पूर्वपक्षीको यह समझना चाहिए कि श्रवणविधि ब्रह्म-विषयक विचारके कर्त्तव्यताविधायक 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रका मूल है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र ब्रह्म-विषयक-विचारकी कर्त्तव्यताका विधान करता है और इस सूत्रका मूल है श्रवण-विधि। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान तो बहुत दूर पड़ जायगा; श्रवण-विधि अगर विचार-कर्त्तव्यता-विधायक-जिज्ञासा सूत्रका मूल स्वीकार किया जाय तब तो श्रवणका अर्थ विचार ही हो जाता है जिसे चित्तकी क्रियारूप कहा गया है। अगर श्रवण ज्ञानरूप स्वीकार किया जाय तब तो पूर्वोक्त युक्तिके कारण उसमें विधि ही नहीं हो सकेगी। इसलिए, श्रवणको विचारात्मक मानसिक क्रिया स्वीकार किया गया है। बादरायण-प्रणीत ब्रह्मसूत्रका प्रत्येक सूत्र किसी-न-किसी उपनिषत्-वाक्यपर आधारित है। उपनिषत्के प्रतिपाद्य अर्थको सूचित करनेवालेको 'सूत्र' कहा जाता है। ब्रह्मसूत्रका आदि है—'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्र। इस सूत्रकी उपजीव्य श्रुति है 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः'

इत्यादि। इसलिए पूर्वोक्त युक्तिसे स्पष्ट होता है कि ऊह एवं अपोहात्मक मानसिक-क्रिया-रूप विचार ही श्रवण है। किसी भी स्थितिमें श्रवण ज्ञानरूप नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षी इसमें शंका प्रदर्शन करते हैं। श्रवणरूप विचार वेदान्त-वाक्य-तात्पर्य-निर्णयके द्वारा अथवा विचार-जन्य तात्पर्य-भ्रम-प्रभृति पुरुषापराध-रूप-प्रतिबन्धकके निष्कासन द्वारा श्रवणरूप वेदान्त-वाक्यका भी ब्रह्मज्ञान फल हो सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि तात्पर्य, भ्रम-प्रभृति पुरुषापराध ब्रह्म-ज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक है।

परन्तु, इस रूप शंका अनुचित है। क्योंकि, वेदान्त-वाक्यार्थ-ज्ञानमें तात्पर्य-ज्ञान कारण नहीं हो सकता है। वाक्यार्थ-बोधमें तात्पर्य-ज्ञान कारण है। इसे कोई भी वादी स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए, श्रवण-रूप विचार वेदान्त-वाक्यके तात्पर्य-निर्णयके द्वारा अर्थज्ञान कराकर ब्रह्म-विषयक-ज्ञान उत्पन्न करेगा। यह प्रथम कल्प समीचीन नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय कल्प-वेदान्त-वाक्य-विचार तात्पर्य-निश्चयको द्वार बनाकर तात्पर्य-निश्चयजन्य जो तात्पर्य-भ्रमादि पुरुषापराध है उस पुरुषापराध-प्रतिबन्धकको हटाकर ब्रह्मज्ञान-रूप फलका उत्पादन करेगा— भी अनुचित है। क्योंकि, कार्यकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धकका अभाव किसी भी स्थितिमें कारण-रूपमें परिगणित नहीं होता है। इसलिए, वेदान्त-वाक्य-श्रवण-रूप-विचार तात्पर्य-निर्णयको द्वार बनाकर अथवा तात्पर्य-निर्णय-जन्य तात्पर्य-भ्रमादि-पुरुष-पराधरूप-प्रतिबन्धकके अभावका द्वारा बनाकर जो ब्रह्मज्ञान-रूप फलका उत्पादन करेगा यह उपपन्न नहीं हो सकता है।

इसमें और भी दोष यह है कि अद्वैतवेदान्तिगण स्वतः प्रामाण्य-वादी हैं। प्रामाण्य-प्रमात्व-स्वतः गृहीत होता है—यही उन लोगोंका सिद्धान्त है। इस स्थितिमें ब्रह्मज्ञानके व्यवस्थित कारणको छोड़ उसके अतिरिक्त अगर ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति विचार-रूप-कारणसे होना स्वीकार किया जाय तब तो ब्रह्मज्ञानका प्रमात्व परतः सिद्ध होता है। ब्रह्म-ज्ञान ब्रह्मज्ञानके जनक सामग्रीसे अतिरिक्त कारणसे उत्पन्न होता है अगर इस रूप व्यवस्थित हो जाय तब तो ब्रह्मज्ञानका प्रामाण्य परतः हो जायगा परन्तु यह तो अद्वैत वेदान्तियोंका सिद्धान्त नहीं है। अतः

यही सिद्ध हुआ कि वेदान्त-वाक्य विचारके द्वारा वेदान्त-वाक्यका तात्पर्य निर्णय होता है और उस तात्पर्य निर्णयको द्वार बनाकर तात्पर्य भ्रम रूप पुरुषापराध निरस्त होता है और इसलिए पुरुषापराध निरसन करनेके लिए ही विचार रूप श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार की गयी है। पुरुषापराध निरास करनेके लिए वेदान्त-वाक्य श्रवण ही करना चाहिए इस रूप नियम-विधि श्रवणमें विवक्षित है।

इसमें प्रश्न होता है कि 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' श्रुतिमें व्यवहृत द्रष्टव्य स्थलमें दृश् धातुका अर्थ है दर्शनज्ञान और जब स्थिति यही है तब तो पूर्वोक्त मैत्रेयी-ब्राह्मणके वाक्यसे यही प्रतीत होता है कि 'द्रष्टव्य स्थलमें दर्शन रूपज्ञान ही श्रवणका फल है और इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म ज्ञान वेदान्त-वाक्य श्रवणका फल है। इसलिए सिद्धान्तीने जो श्रवणका विचाररूप अर्थ स्वीकार कर अपना सिद्धान्त प्रदर्शन किया है—यह तो समीचीन नहीं है।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'द्रष्टव्य स्थलमें 'तव्य' प्रत्ययका व्यवहार 'योग्य' अर्थमें किया गया है। द्रष्टव्य 'शब्दका अर्थ है दर्शन योग्य। इसके द्वारा आत्म-दर्शनकी स्तुति की गयी है। यह आत्म-दर्शन आत्मज्ञान वेदान्त-वाक्य श्रवणका फल है—इस रूप नहीं समझना चाहिए। यह प्रदर्शित मत संक्षेप-शारीरकानुयायी आचार्यगणका है। इस ग्रन्थके रचयिता हैं सर्वात्मज्ञमुनि।[१]

परिसंख्या-विधिः

'श्रोतव्य' स्थलमें वार्त्तिक अनुसरण करनेवाले कतिपय आचार्यगण परिसंख्याविधि स्वीकार करते हैं। वे श्रवणमें न तो अपूर्व-विधि स्वीकार करते हैं और न नियम विधि, बल्कि, परिसंख्या विधि बतलाते हैं। उन

१. न च विचारस्यैव तात्पर्यनिर्णय द्वारा, तज्जन्यतात्पर्यभ्रमादिपुरुषापराधरूप-प्रतिबन्धकविगमद्वारा वा ब्रह्मज्ञानं फलमस्त्विति वाच्यम्, तात्पर्यज्ञानस्य शब्दज्ञाने कारणत्वानुपगमाच्च तयोर्द्वारत्वानुपपत्तेः ब्रह्मज्ञानस्य विचार-रूपातिरिक्तकारणजन्यत्वे तत्प्रामाण्यस्य परतस्त्वापत्तेश्च। तस्मात्तात्पर्य-निर्णयद्वारा पुरुषापराधनिरासार्थत्वेनैव विचाररूपे श्रवणे नियमविधिः। सि० पृ० ३४-३६

लोगोंका यही कथन है कि ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्त-वाक्य श्रवणमें प्रवृत्त पुरुषकी व्यापारान्तरमें जिससे प्रवृत्ति नहीं हो जाय, इसलिए व्यापारान्तरकी निवृत्ति करानेके लिए 'श्रोतव्य'में परिसंख्या-विधि स्वीकार करनी चाहिए। उनलोगोंने कहा है कि जिस प्रकार चिकित्सा-विषयक ज्ञानके लिए चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थके श्रवणमें प्रवृत्त पुरुषको मध्यमें इतर व्यापारोंमें भी प्रवृत्त होना देखा जाता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्त-वाक्य श्रवणमें प्रवृत्त पुरुषका भी व्यापारान्तरमें प्रवृत्त होना संभव है जिसकी निवृत्ति करनेके लिए 'श्रोतव्य' स्थलमें परिसंख्या विधि स्वीकार की गयी है।[1]

इसमें और भी बात यह है कि छान्दोग्य उपनिषद्में 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति'—इस श्रुतिके द्वारा अनन्यव्यापारत्वको ही मुक्तिके साधन रूपमें कहा गया है। इस प्रसंगमें व्यवहृत 'संस्था' शब्द सम्पूर्वक 'स्था' धातुसे निष्पन्न होता है। सम्पूर्वक 'स्था' धातुका अर्थ है समाप्ति, और इसलिए, 'ब्रह्मसंस्था' शब्दका अर्थ है ब्रह्ममें समाप्ति। फिर, ब्रह्ममें समाप्तिका आशय है व्यापारान्तरसे निवृत्ति। अनन्य-व्यापार होकर ब्रह्ममात्रको विषय करना ही इसका अर्थ है। इससे भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदान्त-वाक्य-श्रवणमें व्यापारान्तरको निषेध करनेके लिए वहाँ परिसंख्या-विधि स्वीकार करनी चाहिए।

आथर्वण-श्रुतिमें कहा गया है कि 'एक ब्रह्मको ही जानो और अनात्म प्रतिपादक वाक्योंका त्याग करो। इसके द्वारा भी कण्ठतः अविद्यावृत्तिसे ही शास्त्रान्तर-श्रवणका प्रतिषेध किया गया है। इसी प्रकार 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया'—सुप्ति और मृत्यु-पर्यन्त कालको वेदान्तके चिन्तनसे ही अतिवाहित करना चाहिए। इस प्रकारकी स्मृति भी है जिसमें ब्रह्मज्ञानके लिए व्यापारान्तरका निषेध किया गया है।

---

१. चिकित्साशास्त्रवत् प्राप्तव्यापारान्तरवारिणी।
श्रवणे परिसङ्ख्येयमिति वार्तिकवेदिनः॥ १२॥
ब्रह्मज्ञानार्थं वेदान्तश्रवणे प्रवृत्तस्य चिकित्साज्ञानार्थं चरकसुश्रुतादिश्रवणे प्रवृत्तस्यैव मध्ये व्यापारान्तरेऽपि प्रवृत्तिः प्रसज्यत इति तन्निवृत्तिफलकः 'श्रोतव्यः' इति परिसङ्ख्याविधिः। सि० पृ० ३७-३८

इसमें प्रश्न होता है कि परिसंख्या-विधि तो वहीं होती है जहाँ एक वस्तुके उत्पादनमें एक साथ दो साधनोंकी प्राप्ति हो। लेकिन, प्रकृत-स्थलमें ऐसी बात नहीं हैं, क्योंकि, ब्रह्मज्ञानके अनुपयोगी व्यापारान्तर तो ब्रह्मज्ञानके साधन नहीं हैं। वे श्रवणके साथ किसी स्थितिमें एक ही साध्यमें आपतित नहीं होता है। ऐसा कोई साध्य निष्पाद्य फल नहीं है जिसमें ब्रह्मज्ञानके अनुपयोगी साधन एवं वेदान्त-वाक्य-श्रवण मिलित-रूपमें प्राप्ति लाभ करता है। आशय यह है कि यहाँ ब्रह्मज्ञान उत्पादन करना है और इसके उत्पादनमें श्रवण कारण है न कि व्यापारान्तर। इसलिए एक साथ दो साधनोंकी प्राप्ति नहीं होनेके कारण ब्रह्मज्ञानके अनुपयोगी व्यापारान्तरकी निवृत्तिके लिए परिसंख्या-विधि-स्वीकार करना तो उचित नहीं है।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि, 'सहकार्यन्तरविधिः' उत्तर-मीमांसाके इस सूत्रमें तथा 'यस्मात् पक्षे भेददर्शनप्रावल्यात् न प्राप्नोति, तस्मान्नियमविधिः' इस सूत्रके भाष्यमें कहा गया है कि कृतश्रवणपुरुषको वेदान्त-वाक्यके अर्थसे उत्पन्न ज्ञानमात्रके द्वारा कृतकृत्यताबोध होनेके बाद उसे अविद्याके निवर्त्तक एवं ब्रह्म-साक्षात्कारके साधन निदिध्यासनमें कदाचित् प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए, वेदान्त-वाक्यार्थ-ज्ञानमात्र अविद्या-निवर्त्तक ब्रह्म-साक्षात्कारका साधन नहीं होनेपर भी पूर्वोक्त युक्तिसे उसकी जब पक्षमें प्राप्ति सम्भावित है तब उसकी निवृत्तिके लिए निदिध्यासनमें नियम-विधि स्वीकार की गयी है। इसी न्यायसे समुच्चयसे असाधनकी प्राप्ति होनेपर उसकी निवृत्तिके लिए परिसंख्या-विधि हो सकती है।

आशय यह है कि ब्रह्मज्ञानके अनुपयोगी साधनान्तरको अगर श्रवणके साथ एक साथमें प्राप्ति लाभ करनेकी जब सम्भावना है तब उस स्थितिमें ब्रह्मज्ञानमें असाधनतारूप श्रवणके साथ मिलित-रूपमें प्राप्ति होनेपर भी उस असाधनताकी निवृत्ति करानेके लिए श्रवणमें परिसंख्या-विधि सम्भव हो सकती है। इसलिए वार्त्तिककारके मतानुसारी आचार्यगण कहते हैं कि श्रवणमें नियम अथवा परिसंख्या-विधि ये दोनों अर्थ जब विधि-प्रत्ययका हो सकता है तब अनात्म-वस्तुको अदर्शनके द्वारा ही परमात्माकी उपासनामें हमलोग प्रवृत्त हैं। इस स्थलमें आत्माका दर्शन

नहीं कहा गया है, बल्कि, अनात्माका अदर्शन कहा गया है जिसके द्वारा ही परिसंख्या-विधिकी सूचना की गयी है।

वाचस्पति-सिद्धान्त

वाचस्पतिके सिद्धान्तके अनुसार 'आत्मा श्रोतव्यः' इत्यादिमें कोई विधि नहीं है। क्योंकि, 'मन्तव्य' शब्दके द्वारा जिस प्रकार आत्माको मननके विषयके रूपमें निर्देश किया गया है उसी प्रकार श्रवण भी आत्म-विषयक-रूपमें निर्देश किया गया है। मननके समान श्रवणको भी आत्म-विषयक ही समझना चाहिए। क्योंकि, 'आत्मा श्रोतव्यः' इस श्रुतिमें आत्मा और श्रवणका परस्पर विषय-विषयिभाव-सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस प्रकार आत्म विषयकत्वरूपसे कहा गया श्रवण भी आगम-शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न होनेवाला आत्मज्ञान ही है और ज्ञानमें कोई विधि सम्भव नहीं है—यह पहले ही विस्तृत-रूपसे प्रतिपादन किया गया है। श्रवणका अर्थ तात्पर्य विचाररूप नहीं है। इसलिए श्रवण आत्मविषयक ज्ञान होनेके कारण उसमें कोई विधि नहीं हो सकती है।

आत्मज्ञान-रूप श्रवणमें कोई विधि नहीं है—इसमें भाष्यकारकी उक्ति भी प्रमाण है। उत्तर-मीमांसाके समन्वय-सूत्रमें 'तत्तु समन्वयात्' के शांकर-भाष्यमें आत्मज्ञानकी विधिके निराकरणके पश्चात् शांकर-भाष्यमें इस रूप कहा गया है कि तब 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि उपनिषद्-वचन जो विधिच्छायाके समान है उसका प्रयोजन क्या है? इस स्थलमें भाष्यकारकी उक्ति पर ध्यान देना उचित है। उन्होंने स्पष्ट-रूपसे कहा है कि द्रष्टव्य श्रोतव्यः इत्यादि स्थलमें प्रयुक्त 'तव्य' प्रत्ययका अर्थ विधि नहीं है, उसे विधिच्छाया-विध्याभास-समझना चाहिए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रवणादिमें विधि-स्वीकार करना भाष्यकारका अभिप्रेत नहीं है। उस प्रसंगमें भाष्यकारने कहा है कि मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके जो विषय हैं उससे मनुष्यको विमुख करनेके लिए पूर्वोक्त द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः इत्यादि स्थलमें विध्या-भास-समूहका प्रयोजन है।[1]

१. श्रवणं ह्यागमाचार्यवाक्यजं ज्ञानमिष्यते।
अयोग्येऽत्र विधिर्नेति वाचस्पतिमतानुगाः ॥ १३ ॥

श्रवणमें नियम-विधिवादी कहते हैं कि श्रवणका अर्थ है वेदान्त-तात्पर्य-विचार। अगर यही मत स्वीकार किया जाय—यदि श्रवणको आत्म-विषयक ज्ञान-रूप नहीं मानकर वेदान्त-तात्पर्य-विचाररूप ही स्वीकार करें तब तो वेदान्त-तात्पर्य-विचार-रूप-श्रवणके द्वारा वेदान्त-तात्पर्यका निर्णय होगा। क्योंकि विचारके द्वारा विचार्य विषयका निर्णय होता है। अतः तात्पर्य-विषयक विचारके द्वारा तात्पर्य-निर्णय हो जायगा और तात्पर्य-निश्चयके द्वारा वेदान्त-वाक्योंके तात्पर्य-भ्रम—तात्पर्य संशयरूप-प्रतिबन्धकका निराश कर देना ही वेदान्त-तात्पर्य-विचार-रूप-श्रवणका फल हो जायगा। क्योंकि, निर्णयके द्वारा भ्रम और संशयका निरास हो जाता है। अतः पूर्वोक्त प्रतिबन्धक-वेदान्त-तात्पर्य-भ्रम और वेदान्त तात्पर्य संशयका निराकरण छोड़ अन्य प्रतिबन्धक पापका निरास या ब्रह्मज्ञान तो श्रवणका फल नहीं हो सकेगा। इसलिए, वेदान्ततात्पर्य-विचार-रूप-श्रवणका फल न तो भिन्न प्रतिबन्धकका निरास करना है और न ब्रह्मज्ञान ही।

फिर, नियमविधिवादीके कथनानुसार वेदान्त-तात्पर्य रूप-श्रवणका जो पूर्वोक्त वेदान्त-तात्पर्य-भ्रम और वेदान्त-तात्पर्य संशयरूप प्रतिबन्धक के निराकरण-रूप फल है वह तो लोकव्यवहारमें ही अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा सिद्ध है। अतः पूर्वोक्त प्रतिबन्धक-निराशरूप फलमें और कोई साधनान्तर विकल्प-रूपमें अथवा समुच्चयरूपमें प्राप्त नहीं है। तब किसकी निवृत्ति करानेके लिए श्रवणमें नियम अथवा परिसंख्या-विधि स्वीकार की जायगी ? इसलिए वाचस्पति-मतानुसारियोंका यही कहना है कि श्रवणमें तीन विधियोंमें-से किसी भी विधिका अवकाश नहीं है।

श्रवणरूप विचारमें विधि नहीं स्वीकार करनेपर कोई अनुपपत्ति भी नहीं होती है। क्योंकि, 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'—उसकेज्ञानके लिए गुरुके पास ही जाय—इस प्रकार आत्मज्ञानके लिए विधीयमान गुरुके पास जानेकी विधि विद्यमान है। इस विधि-गुरुमुखाधीन वेदान्त विचारको द्वार बनाकर वह गुरुमुखाधीन वेदान्त-विचार-पूर्वक आत्म-

'आत्मा श्रोतव्यः' इति मननादिवत् आत्मविषयकत्वेन निबध्यमानं श्रवणभागमाचार्योपदेशजन्यमात्मज्ञानमेव, न तु तात्पर्यविचाररूपमिति न तत्र कोऽपि विधिः। सि० पृ० ४०-४१

ज्ञानमें ही पर्यवसित होती है। इस गुरूपसंदन विधिके द्वारा ही अपने प्रयत्नसे निष्पाद्य विचारका निषेध भी हो जाता है। अपने प्रयत्नके द्वारा निष्पाद्य वेदान्त-वाक्यका जो विचार है उसको निषेध करानेके लिए वेदान्त-वाक्य विचारमें विधि स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं हैं।

गुरुके पास जानेके लिए जो विधि है वह विधि गुरुमुखाधीन हो वेदान्त विचार करनेके लिए विधान कर रहा है। गुरुके पास जाना एवं गुरुमुखाधीन वेदान्त विचार इनके द्वारा आत्म विषयक ज्ञानकी उत्पत्ति होती है—यही गुरूपसदन-विधिका आशय हैं। साक्षात्‌रूपसे-गुरूपसदनके द्वारा आत्म-विषयक विज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। आत्म-विषयकज्ञान उत्पन्न होनेके लिए उसके अव्यवहित पूर्वमें गुरुमुखाधीन वेदान्त विचार रहना चाहिए। गुरुमुखाधीन वेदान्त विचार आत्म-विषयक विज्ञान उत्पादन करनेके लिए द्वार व्यापार समझना चाहिए। इसीसे अपने प्रयत्नके द्वारा जो वेदान्त विचार है उसकी निवृत्ति हो जाती है। अपने प्रयत्नके द्वारा निष्पाद्य विचार आत्म विषयक विज्ञान उत्पादन करनेमें समर्थ नहीं है।

इसमें प्रश्न होता है कि 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इस विधि के बलके द्वारा अगर श्रवण-रूप विचारमें विधि अस्वीकार किया जाय तब तो 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधिका भी कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि, पूर्वोक्त गुरूपसदन विधिके द्वारा ही अपने प्रयत्नसे निष्पाद्य वेदाध्ययनकी निवृत्ति हो जायगी।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि पूर्वपक्षीकी इसरूप शंका उचित नहीं है क्योंकि, विचार विधिके साथ अध्ययन विधिका वैलक्षण्य है। गुरूपसदन विधि जो स्वीकार की गयी है उसमें गुरुमुखाधीन वेदान्त विचार द्वार-व्यापार बन जाता है और इससे स्वतन्त्र रूप विचारमें विधि स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन अनुभूत नहीं होता है।

लेकिन, विचार विधिके सदृश यदि अध्ययन विधिका भी अभाव स्वीकार किया जाय तब तो गुरुके पास जानेकी विधि अक्षरावाप्ति विधीयमान नहीं होनेके कारण अक्षरावाप्ति रूप प्रयोजनके लिए गुरुमुख

से उच्चारण एवं गुरुमुखसे उच्चारणके बाद शिष्यका उच्चारणरूप अध्ययन ही प्रकृत प्रसंगमें द्वार नहीं बनता है। अगर ऐसा होता तब तो उपगमन-विधिके द्वारा इष्ट सिद्धि होनेके कारण अध्ययन विधि निष्प्रयोजन ही होती, क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि उपगमन विधि आत्म विज्ञानके लिए विधीयमान है, उपगमन-विधि अक्षरावाप्तिके लिए विधीयमान नहीं हुई है।

अगर ऐसा होता तब तो उपगमन विधिका अक्षरावाप्ति ही फल होनेके कारण, गुरुमुखसे उच्चारणके अनन्तर शिष्यका उच्चारण रूप अध्ययनको द्वार बनाकर उपगमन विधिसे ही अक्षरावाप्ति रूप फल लाभ हो सकता और इससे अध्ययन विधि भी निष्फल होती। लेकिन, यह स्पष्ट समझना चाहिए कि गुरूपसदन विधि आत्म-विज्ञानके लिए है, वह अक्षरावाप्तिके लिए नहीं है। अक्षरावाप्ति गुरूपसदन विधिका फल नहीं है वह अध्ययन विधिका फल है। इसलिए गुरूपसदन विधिके स्थलमें गुरुमुखाधीन वेदान्त-वाक्य विचारको दृष्ट द्वार बनाकर आत्म विज्ञानमें आत्मज्ञानोत्पत्तिमें-पर्यवसित होता है और इसके फलस्वरूप आत्म विज्ञान उत्पादन करनेके लिए कोई अदृष्ट वस्तुकी कल्पना नहीं करनी पड़ती है। लेकिन, यह बात अध्ययन-विधिके साथ उपगमन विधिका जो सम्बन्ध है इससे नहीं मिल सकता है। क्योंकि, अध्ययन-विधिका प्रयोजन वेदाक्षरकी प्राप्ति है और वेदाक्षरकी प्राप्ति उपगमन विधिका फल नहीं है।

जब स्थिति यही है तब उपगमन-विधि गुरुमुखसे उच्चारणके बाद शिष्यके उच्चारण रूप अध्ययनको द्वार बनाकर अध्ययन विधिको निष्फल नहीं कर सकता है। अतः यह सिद्ध होता है कि स्वलिखित वेदाध्ययनकी व्यावृत्ति करानेके लिए गुरूपगमन-विधि समर्थ नहीं है। अध्ययन-विधिमें नियम-विधि स्वीकार करनेसे ही स्वलिखित वेद पाठादिकी निवृत्ति सिद्ध हो सकती है गुरूपगमन-विधिसे यह संभव नहीं है। इसलिए, गुरूपगमन-विधिके द्वारा जिस प्रकार विचार-विधि निष्फल हो जाती है उस प्रकार अध्ययन-विधि नहीं होती है। स्वलिखित वेदपाठादिकी व्यावृत्ति ही अध्ययनमें नियम-विधि स्वीकार करनेका फल है।[१]

१. अध्ययनविध्यभावे तूपगमनं विधीयमानमक्षरावाप्त्यर्थत्वेनाऽविधीयमान-

वेदान्त-तात्पर्य-विचाररूप-श्रवणमें नियम-विधि माननेवाले पूर्वपक्षी फिर शंका उपस्थापन करते हैं। उनका कहना है कि वेदान्त वाक्यके तात्पर्यादि भ्रमका निराकरणके लिए वेदान्त-वाक्य विचारार्थी व्यक्ति कदाचित् द्वैतशास्त्रमें भी प्रवृत्त हो सकता है। यह पहले कहा जा चुका है कि विचारके द्वारा विचार्य-विषयक भ्रमको निरासकर उसके तात्पर्य का निर्णय होता है। इसलिए, वेदान्त-वाक्यके तात्पर्यमें उत्पन्न भ्रमको निरास करनेके लिए कदाचित् द्वैतशास्त्रमें भी प्रवृत्ति हो सकती है क्योंकि द्वैतप्रतिपादक शास्त्रमें भी वेदान्त-वाक्य विचार प्रतिपादित हुआ है। इसलिए वेदान्त-वाक्यके तात्पर्यादि भ्रमके निरास करनेके लिए वेदान्त-वाक्यके विचारार्थी व्यक्ति जिससे द्वैतशास्त्रमें प्रवृत्त नहीं हो जाये इससे श्रवणमें अद्वैत आत्मपरक वेदान्त-विचारमें नियम-विधि स्वीकार किया गया है। आशय यह है कि श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार कर यह प्रतिपादन किया गया है कि अद्वैत आत्मपरक वेदान्त-वाक्यका ही विचार करना चाहिए और श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार करनेसे ही द्वैतशास्त्रकी प्रवृत्तिका निषेध हो जायगा। अतः इसके द्वारा यही सिद्ध होता है कि अद्वैत आत्मपरक वेदान्त-विचार ही श्रवणका अर्थ है। इससे श्रवणमें नियम-विधि स्वीकार करना भी फलवान् है।

इसके उत्तरमें वाचस्पति मतानुयायीका कथन है कि पूर्वोक्त शंका व्यर्थ है, क्योंकि नियम-विधि उसी स्थलमें स्वीकार की जाती है जहाँ विधीयमान साधनसे भिन्न साधनान्तरका प्राप्तिकी सम्भावना रहती है। परन्तु, प्रकृत स्थलमें इसका कोई प्रसंग नहीं है। क्योंकि, द्वैतशास्त्र ही तो वेदान्त-वाक्य-तात्पर्य-भ्रमका कारण है और जो स्वयं भ्रमका कारण है वही भ्रमका निराकरण कर्त्ता नहीं हो सकता है। इसलिए, यह कथन, 'वेदान्त-तात्पर्य-विचारार्थी पुरुष वेदान्त-तात्पर्यादि-भ्रमके निराकरण करनेके लिए कदाचित् द्वैतशास्त्रमें प्रवृत्त होगा', सर्वथा अनुचित है। इस स्थलमें साधनान्तरकी प्राप्तिका अभाव रहनेके कारण नियम-विधि स्वीकार करना अयुक्तिक है।

त्वान्न तदर्थं गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणमध्ययनं द्वारीकरोतीति लिखितपाठादिव्यावृत्त्यसिद्धेः सफलोऽध्ययननियमविधिः।

सि० पृ० ४४

अगर कहा जाय कि द्वैतशास्त्रमें वेदान्त-तात्पर्य-भ्रमका निरासकत्व विद्यमान है—इस प्रकारका भ्रम होना तो सम्भव है, और उसी भ्रम प्रयुक्त वेदान्त-वाक्य-विचारमें वेदान्त-तात्पर्य-विचारार्थी पुरुषकी प्रवृत्ति हो सकती है। और इसलिए, पूर्वोक्त कारणसे द्वैतशास्त्रमें प्रवृत्तिके निराकरणके लिए श्रोतव्य-स्थलमें नियम-विधि-स्वीकार किया गया है।

लेकिन, इस रूप भी कहना अनुचित है। क्योंकि, अद्वैत आत्मतत्त्वमें श्रद्धा उत्पन्न होनेका कारण ही है ईश्वरानुग्रह। पूर्वोक्त अद्वैत आत्मतत्त्वमें श्रद्धारहित पुरुषको द्वैतशास्त्रके अभिमतानुसारी योजनाके द्वारा श्रोतव्य-वाक्यमें भी सद्वितीय आत्म-विचारमें विधिका भ्रम हो सकता है और इससे भ्रमप्रयुक्त जो अन्यत्र प्रवृत्ति है उसका परिहार सैकड़ों विधियोंके द्वारा भी नहीं किया जा सकता है।[१] इसलिए, श्रोतव्य-स्थलमें नियम-विधि स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है।

श्रोतव्य-स्थलमें परिसंख्या-विधिको अंगीकार करनेवाले कहते हैं कि भिन्न प्रकारके व्यापारकी निवृत्ति करनेके लिए पूर्वोक्त-स्थलमें परिसंख्या-विधिका प्रयोजन है।

परन्तु, श्रवणमें परिसंख्या-विधिवादियोंका इस प्रकार कथन उचित नहीं है। क्योंकि, पूर्वोक्त व्यापारान्तरकी निवृत्ति अगर असंन्यासी (गृहस्थाश्रममें विद्यमान व्यक्ति) का अभिप्रेत है तब तो वह सम्भव नहीं है। क्योंकि, विहित-गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करनेके अनुरोधसे गृहस्थोंके लिए ब्रह्म-विषयक श्रवणादिको छोड़कर व्यापारान्तरकी निवृत्ति श्रोतव्य-वाक्यसे प्रतीत नहीं हो सकती है। अतएव श्रोतव्य-स्थलमें श्रवण-व्यतिरिक्त व्यापारान्तरकी निवृत्ति रूप परिसंख्या अगर

---

१. स्वयमेव तात्पर्यभ्रमहेतोस्तस्य तन्निरासकत्वामात्रेन साधनान्तरप्राप्त्यभावात्। तन्निरासकत्वभ्रमेण तत्रापि कस्यचित्प्रवृत्तिः स्यादित्येतावत 'श्रोतव्यः' इति नियमविधेरभ्युपगम इत्यपि न। ईश्वरानुग्रहफलाद्वैतश्रद्धारहितस्य श्रोतव्यवाक्येऽपि पराभिमतयोजनया सद्वितीयात्मविचारविधिपरत्वभ्रमसम्भवेन भ्रमप्रयुक्तायां अन्यत्र प्रवृत्तेर्विधिशतेनाऽप्यपरिहार्यत्वात्। • सि० पृ० ४५-४६

स्वीकार की जाय तब तो जिन श्रुति-वाक्य-समूहके द्वारा गृहस्थ पुरुषके व्यापारान्तरका विधान किया गया है उसके साथ उसका विरोध हो जायगा।

अगर श्रोतव्य-स्थलमें संन्यासीके व्यापारान्तरकी निवृत्तिके लिए परिसंख्या-स्वीकार किया गया है—इस रूप कहा जाय तब तो वह भी समीचीन नहीं है। क्योंकि, उस स्थितिमें ब्रह्ममें ही सम्यक्रूपमें अवस्थित होकर कर्म-समूहोंके संन्यास-विधायक श्रुति-वाक्य 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति' अर्थात्—(ब्रह्ममें सम्यक्रूपमें अवस्थान करनेवाला अमृतत्त्व लाभ करता है), के द्वारा ही सन्यासीके श्रवणादि-व्यतिरिक्त व्यापारान्तरकी निवृत्तिका उपदेश सिद्ध हो जाता है। और इसमें संन्यास-विधायक पूर्वोक्त श्रुत्यन्तरकी अपेक्षाकर श्रोतव्य-वाव्यके द्वारा संन्यासी-पुरुषके व्यापारान्तरकी निवृत्तिका उपदेश व्यर्थ हो जायगा। और इससे स्पष्ट होता है कि श्रोतव्य-स्थलमें असंन्यासी-गृहस्थ-पुरुष, अथवा, संन्यासी—इन दोनोंमें एकके भी व्यापारान्तरकी निवृत्ति करानेके लिए पूर्वोक्त-स्थलमें परिसंख्या-विधि स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[1]

'श्रवण'में नियम-विधिवादी अपने मतको सुव्यवस्थित करनेके लिए फिर युक्ति उत्थापन कर रहे हैं। उन्हें यही कहना है कि श्रवण-विचारमें नियम-विधि सम्भव नहीं होनेपर भी विचारका विषय जो वेदान्त है उसमें तो नियम-विधि हो सकती है। और उससे वेदान्त-वाक्यका ही विचार करना उचित है—इस प्रकार नियम-विधिके द्वारा भाषामें निबन्धित प्रबन्धादिका निषेध नियम-विधिका फल हो जायगा। इसीसे भाषा-प्रबन्धादि व्यावृत्त हो जायगा। कोई व्यावर्त्य-निषेध्य नहीं रहनेसे नियम-विधि असफल हो जाती है। प्रकृत-स्थलमें भाषा-प्रबन्धादि व्यावर्त्य रहनेके कारण वेदान्त-वाक्यमें नियम-विधि हो जायगी।

---

१. न च व्यापारान्तरनिवृत्त्यर्था परिसङ्ख्येति वाच्यम्, असंन्यासिनो व्यापारान्तरनिवृत्तेरशक्यत्वात्। संन्यासिनस्तन्निवृतेः ब्रह्मसंस्थया सह संन्यासविधायकेन 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति श्रुत्यन्तरेण सिद्धतया संन्यासविधायकश्रुत्यन्तरमपेक्ष्य श्रोतव्यवाक्येन तस्य व्यापारान्तरनिवृत्त्युपदेशस्य व्यर्थत्वात्। सि० पृ० ४७-४८

परन्तु, नियम-विधिवादियोंका इस प्रकार कहना उचित नहीं है। क्योंकि, वेदान्त-वाक्योंका ही श्रवण-विचार करना चाहिए—इस प्रकारका नियम तो सन्निधानप्रयुक्त ही लब्ध होता है और जो विषय प्राकान्तरमें लब्ध होता है यह विधिका विषय नहीं हो सकता है। प्रामाणान्तरके द्वारा अप्राप्त-विषयमें ही विधि-स्वीकार किया जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि जो सन्निधानप्रयुक्त ही वेदान्तमें नियम लब्ध होता है—इसका आशय क्या है ?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'–इस श्रुति-वाक्य के द्वारा समग्रवेदका अध्ययन विहित हुआ है। वेदाध्ययनसे उत्पादित वेदार्थका ज्ञानरूपफल होनेके बाद वेदार्थके परिज्ञाता यागादिका अनुष्ठान करते हैं। वेदार्थका ज्ञान उत्पन्न नहीं होनेसे वेदाध्ययन निष्फल है। इसलिए 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'इस विधिके अनुसार–विहित-वेदाध्ययनका प्रयोजन है वेदार्थका ज्ञान। वेदार्थका ज्ञानके लिए ही 'अध्येतव्यः'में नियम-विधि स्वीकार किया गया है। वेदार्थका ज्ञान अगर नहीं हो जाय तब तो यागादिका अनुष्ठान संभव नहीं होगा। और इससे वेदाध्ययन भी निष्फल हो जायगा। इसलिए वेदार्थका ज्ञानके लिए अध्ययन-विधिमें नियम-विधि स्वीकार किया गया है। और इससे निष्कर्ष यही हुआ है कि पूर्वोक्त नियम-विधिके बलसे ही गुरुके पास अध्ययनके द्वारा गृहीत-वेदके द्वारा उत्पादित जो वेदार्थ ज्ञान है वही यज्ञानुष्ठानरूप फलमें पर्यवसित होता है। परन्तु, कारणान्तरके द्वारा उत्पादित वेदार्थ-ज्ञान यागानुष्ठानरूप फलमें पर्यवसित नहीं होता है। आशय यह है कि कारणान्तरके द्वारा उत्पादित वेदार्थ-ज्ञान प्राप्त कर अगर यागादिका अनुष्ठान किया जाय तब वे यागादि अपूर्व-अदृष्टका जनक नहीं हो सकेंगे।

अब, स्थिति यही है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिके बलसे जब गुरुके पास अध्ययनसे गृहीत वेदके द्वारा वेदार्थ-ज्ञान उत्पन्न हो जायगा तब मोक्षके लिए इस प्रकारका ज्ञान हो ही जायगा कि 'वेदप्रतिपाद्य ब्रह्म ज्ञातव्य है। और तब यह कहना ही निष्प्रयोजन है कि वेदान्त-वाक्यसे ही मोक्षका साधन ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है। और इससे मोक्षके

साधन ब्रह्म-विषयक-ज्ञानोत्पादनमें भाषा-प्रबन्धादिकी प्राप्ति नहीं है। इसलिए नियम-विधिवादियोंका कथन, भाषाप्रबन्धादिरूप, निषेध्य विद्यमान रहनेके कारण वेदान्त-वाक्य-विचारमें नियम-विधि स्वीकार किया जायगा, सर्वथा अनुचित है। और इसलिए कहा गया है कि वेदान्त-वाक्य-विचारमें जो नियम नियम-विधिवादी स्वीकार करना चाहते हैं वह स्वाध्यायोऽध्येतव्यः '-इस अध्ययनविधिके दृष्टिकोणसे सन्निधान-से ही लब्ध होता है।[1]

फिर, इसमे नियमविधिवादी अपने मत को स्थापन करनेके लिए नवीन युक्तिका प्रदर्शन कर रहे हैं। उनका कथन यह है कि ब्रह्मसूत्रके 'सहकार्यन्तरविधिः नामके अधिकरणमें बाल्य, पाण्डित्य एवं मौन शब्द-के द्वारा यथाक्रममें प्रतिपादित श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनमें सूत्रकार और भाष्यकारने तो विधिस्वीकार किया है। इसलिए श्रवणमें विधि नहीं है– यह कथन असंगत है।

इसके उत्तरमें कहा गया है कि पूर्वोक्त नियमविधिवादीका इसरूप युक्ति-प्रदर्शन अनुचित है। क्योंकि, श्रवण-विचार विचार्य-विषयके तात्पर्य-निर्णयका हेतु होता है। इसी प्रकार मनन सिद्धिके अनुकूल युक्तिके अनुसन्धानरूप है और निदिध्यासन पूर्वोक्त विषयके ज्ञानका अभ्यासरूप अर्थात् पुनः-पुनः चित्तमें स्थापनरूप है। और इससे श्रवण-विचार, मनन एवं निदिध्यासनमें—इन तीनोंमें वस्तुका जो ज्ञान है उस ज्ञानगत वैशद्यका कारणत्व विद्यमान है। यह विषय लोक-व्यवहारसे ही सिद्ध होनेके कारण श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनमें विधिकी कोई अपेक्षा नहीं है। कारण, यह पहले ही कहा जा चुका है कि जो प्रमाणान्तरके द्वारा अज्ञात है उसीमें विधि होती है।

१. न च विचारविध्यसम्भवेऽपि विचारविषयवेदान्तनियमविधिः सम्भवति, भाषाप्रबन्धादिव्यावर्त्त्यसत्त्वादिति शङ्क्यम्। सन्निधानादेव वेदान्तनियमस्य लब्धत्वेन विधिविषयत्वायोगात् "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यर्थावबोधार्थंनियमविधिबलादेवाध्ययनगृहीतवेदोत्पादितं वेदार्थज्ञानं फलपर्यवसायि, न कारणान्तरोत्पादितमित्यस्यार्थस्य लब्धत्वेन वेदार्थे ब्रह्मणि मोक्षाय ज्ञातव्ये भाषाप्रबन्धादीनामप्राप्तेश्च। सि० पृ० ४८-४९

तब, प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मसूत्रके पूर्वोक्त अधिकरणमें जो श्रवणादिमें विधि-व्यवहार उपलब्ध होता है उसकी क्या गति होगी ?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि अर्थवाद-वाक्य जिस प्रकार विधिकी छाया है और वे विधिकी प्रशंसाके द्वारा विहितपदार्थमें पुरुषकी प्रवृत्तिमें आतिशय्य उत्पादन करता है—अर्थवाद विधिकी स्तुतिके द्वारा विहित-क्रियामें पुरुषकी प्रवृत्ति अतिशयित कर देता है और इससे विधिच्छायामें विधि-व्यवहार होता है उसी प्रकार श्रवणादिमें भी समझना चाहिए। आशय यह है कि श्रवणादिमें पुरुषकी प्रवृत्तिको अतिशयित्त करनेके लिए ही विधि-प्रत्ययका व्यवहार किया गया है। वस्तुतः वह विधि-च्छाया है, विधि नहीं है। अब, निष्कर्ष यही हुआ कि श्रवणसे जब विधि सम्भव नहीं है तब कर्मकाण्डके सदृश ब्रह्मकाण्डके विचारको भी अध्ययन-विधि-मूलक ही समझना चाहिए[1] यही आचार्य-वाचस्पति-पक्षानुसारी आचार्योंका मत है।[2]

९

---

१. न च "सहकार्यान्तरविधिः" इत्याधिकरणे बाल्यपाण्डित्यमौनवद्विदितेषु श्रवणमनननिदिध्यासनेषु विधिरभ्युपगत इति वाच्यम्, विचारे विचार्य्यं-तात्पर्यंनिर्णयहेतुत्वस्यवस्तुसिद्ध्यनुकूलयुक्त्यनुसन्धानरूपे मनने तत्प्रत्य-याभ्यासरूपे निदिध्यासने च वस्त्ववगमवैशद्यहेतुत्वस्य च लोकसिद्धत्वेन तेषु विध्यनपेक्षणात्। विधिच्छायार्थवादस्यैव प्रशंसाद्वारा प्रवृत्त्यतिशयकर-त्वमात्रेण तत्र विधिव्यवहारात्। एवं च श्रवणविध्याभावात् कर्मकाण्ड-विचारवत् ब्रह्मकाण्डविचारोऽप्यध्ययनविधिमूल इत्याचार्यवाचस्पतिपक्षा-नुसारिणः ॥ १ ॥ सि० पृ० ४९

२. इस प्रसंगमें आचार्यवाचस्पतिमतके विस्तृत अध्ययनके लिए द्रष्टव्य भामती-ग्रन्थ।

उपसंहार

बृहदारण्यक-वाक्य 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः·····'में जो विधिस्वरूप-विचारकी अवतारणा की गयी है उसका निष्कर्ष हमलोग अब उपस्थित कर रहे हैं। जिन आचार्योंने 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः·····' इत्यादि वाक्यमें आत्म-साक्षात्कारमें विधिरूप स्वीकार किया है उनके मतमें निष्प्रपञ्च अद्वितीय आत्माके साक्षात्कारमें विधिस्वीकार करनेपर भी आत्माका निष्प्रपञ्चरूपत्व अथवा अद्वितीयत्व सिद्ध नहीं होगा। कोई-कोई दर्शन-शास्त्रके अध्यापक कहते हैं कि आत्म-साक्षात्कारमें विधिवादी थे,—इस रूप स्वीकार करते हैं, परन्तु, इस प्रसंगमें अतिशय दुःखके साथ कहना पड़ता है कि हमलोग तो ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि, आचार्य शंकरने ज्ञानमें विधिका खण्डन ब्रह्मसूत्रका सिद्धान्तके अनुसार किया है। आत्म-ज्ञानमें विधिस्वीकार करनेसे 'तत्तु समन्वयात्'[1]—इस ब्रह्मसूत्रका उत्थान ही नहीं सम्भव होता है।

परन्तु, मीमांसकोंका एक सम्प्रदाय आत्म-दर्शनमें विधि स्वीकार करता था। ब्रह्मसूत्रमें आत्म-ज्ञानमें विधिस्वीकार नहीं किया गया है। इसलिए, ब्रह्मसूत्र-निरपेक्ष पूर्वमीमांसकोंने आत्म-ज्ञानमें विधि स्वीकार करनेमें बिन्दुमात्र भी संकोच अनुभव नहीं किया है। और आत्म-दर्शनमें विधि-स्वीकार करनेसे वह विधि क्या नियमविधि होगी अथवा परिसंख्या विधि?—इस प्रकारकी आलोचनाके प्रसंगमें नैष्कर्म्य-सिद्धिकार भगवान् सुरेश्वराचार्यने निम्नलिखित कारिका[2] की रचना की है—

"नियमः परिसङ्ख्या वा विध्यर्थोऽत्र भवेयतः।
अनात्मादर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे॥"

सिद्धान्तलेशसंग्रह ग्रन्थमें अप्पय्यदीक्षितने श्रवणविधि-विचारके प्रसंगमें पूर्वोक्त कारिकाको उद्धृतकर[3] पाठकोंको भ्रममें डाल दिया है।

---

१. ब्र०—१।१।४ २. नै० सि० १-८८
३. सि० पृ० ४०

विवरण-प्रस्थानके अनुसार ही श्रवणादिमें विधिस्वीकार किया गया है। विवरणाचार्यके अनुयायी 'आचार्योंने श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन—इन तीनोंको मानस-क्रिया अर्थात् तर्करूप कहा है। तर्क मानस-क्रियारूप होनेके कारण उसमें विधि हो सकती है—यही उन आचार्योंका कथन है।

श्रवणादि तीनोंमें एक भी ज्ञानरूप वस्तु नहीं है। अगर वह ज्ञानरूप होता तब तो विधि होना असम्भव था। आत्म-दर्शनमें विधि विवरणका सिद्धान्त नहीं है, अपितु वह तो मीमांसकोंके एक सम्प्रदाय-विशेषका सिद्धान्त है। सम्प्रदाय-विशेषके सिद्धान्तोंको प्रदर्शित करनेके लिए ही नैष्कर्म्य-सिद्धिमें उल्लिखित कारिकाका उपनिबन्धन किया गया है। पूर्वोक्त मीमांसकगण ही आत्मसाक्षात्काररूप दर्शनमें विधि स्वीकार करते हैं।

आत्म-दर्शनमें परिसंख्या स्वीकार करनेसे ही वह अनात्माका दर्शनरूप हो जायगा। और इससे 'आत्मदर्शनं कुर्यात्'—इस वाक्यका अर्थ 'अनात्मनोऽदर्शनं कुर्यात्'—इस रूप हो जायगा। यह स्पष्ट है कि आलोच्य नैष्कर्म्य-सिद्धिकी कारिका 'श्रवण'में परिसंख्या प्रदर्शन नहीं कर रहा है। 'श्रवण'में वहाँ अगर परिसंख्याविधि-अभिप्रेत होती तब तो—'अनात्मनः अश्रवणं कुर्यात्' ऐसा अर्थ-ग्रहण करना पड़ता। स्वेतर-योगव्यवच्छेद[1] ही परिसंख्याका अर्थ है।

सिद्धान्तलेशसंग्रहमें भी पूर्वोक्त कारिकाका उल्लेख किया गया है, परन्तु सिद्धान्तलेशकार स्वयं एवं उसके टीकाकारगण इस विषयका प्रतिपादन स्पष्टरूपसे नहीं कर सके हैं। नैष्कर्म्य-सिद्धिमें आत्म-दर्शनमें विधिवादियोंके मतके प्रदर्शनके प्रसंगमें यह बात कही गयी है, परन्तु अभीतक इसकी ओर ध्यान कम ही व्यक्तियोंका है।

इतिशम्

---

१. स्व=अपनेसे जो इतर=भिन्न है उसके साथ योग=सम्बन्धका व्यवच्छेद=निषेध यही परिसङ्ख्याका अर्थ है। स्व=आत्मासे इतर=अनात्माके साथ दर्शनरूप योगका व्यवच्छेद=अदर्शन ही परिसङ्ख्या है।

सहायक ग्रन्थोंकी सूची

ग्रन्थोका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
१. बृहदारण्यक उपनिषद्	शांकरभाष्य आनन्द गिरि टीका सहित	आनन्दाश्रम, पूना	१९०२ ई०
२. बृहदारण्यक उपनिषद्	शंकरभाष्य अंग्रेजी अनुवाद स्वामी माधवानन्द द्वारा	मायावती-आश्रम, अलमोड़ा	१९५० ई०
३. बृहदारण्यकोपनिषद्	शांकरभाष्य (सानुवाद)	गोरखपुर	सं० १९९९
४. ईशावास्योपनिषद्	शांकरभाष्य (सानुवाद)	गोरखपुर	सं० १९९७
५. ईशावास्योपनिषद्	शांकरभाष्य आनन्द-गिरिटीका सहित	आनन्दाश्रम	१९३४ ई०
६. केनोपनिषद्	शांकरभाष्य (सानुवाद)	गोरखपुर	सं० १९९८
७. केनोपनिषद्	शांकरभाष्य आनन्द-गिरिटीका सहित	आनन्दाश्रम	१९३४ ई०
८. कठोपनिषद्	शांकरभाष्य (सानुवाद)	गोरखपुर	सं० १९९७
९. कठोपनिषद् विथ	शांकरभाष्य एण्ड आनन्दगिरिटीका	आनन्दाश्रम	१९३१ ई०
१०. मुण्डकोपनिषद्	शांकरभाष्य कारिका सहित (सानुवाद)	गोरखपुर	सं० १९९८
११. मुण्डकोपनिषद्	शांकरभाष्य आनन्द-गिरि टीका	आनन्दाश्रम	
१२. प्रश्नोपनिषद्	शांकरभाष्य (सानुवाद)	गोरखपुर	सं० १९९८
१३. प्रश्नोपनिषद्	शांकरभाष्य आनन्द-गिरिटीका सहित	आनन्दाश्रम	„
१४. माण्डूक्योपनिषद्	शांकरभाष्य (सानुवाद)	गोरखपुर	सं० १९९५
१५. ऐतरेयोपनिषद्	शांकरभाष्य (सानुवाद)	गोरखपुर	सं० १९९५
१६. ऐतरेयोपनिषद् टीका सहित	शांकरभाष्य आनन्दगिरि टीका सहित	आनन्दाश्रम, पूना	१९३१ ई०

ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
१७. तैतैत्तिरीयोपनिषद्	शांकरभाष्य आनन्दगिरि टीका सहित	आनन्दाश्रम, पूना	सं० १९२५
१८. तैत्तिरीयोपनिषद् विथ भाष्य वार्त्तिक आफ सुरेश्वराचार्य		आनन्दाश्रम, पूना	१९११ ई०
१९. छान्दोग्योपनिषद्	शांकरभाष्य आनन्दगिरि टीका सहित	जीवानन्द विद्या सागर कलकत्ता	१८७३ई०
२०. छान्दोग्योपनिषद्	शांकरभाष्य आनन्दगिरि टीका सहित	जीवानन्द विद्या सागर कलकत्ता	१९७३ई०
२१. श्वेताश्वेतरोपनिषद्	शांकरभाष्य हिन्दी अनुवाद	गीताप्रेस	सं० १९९५
२२. श्वेताश्वेतरोपनिषद्	आनन्दगिरि	आनन्दाश्रम	१९२७ ई०
२३. गुह्यकाल्युपनिषद्		बनारस	१९३८ ई०
२४. शतपथब्राह्मणम्	च्युतग्रन्थमाला कार्यालय		सं० १९९७
२५. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम चतुः-सूत्री पर्यन्त विथ भामती	हिन्दी ट्रांसलेशन वाइ सरयू प्रसाद उपाध्याय	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी	१९६६ई०
२६. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य विथ भाष्य	रत्नप्रभा		
२७. भामती एण्ड न्यायनिर्णय	महादेव शास्त्री, वर्के	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९१४ ई०
२८. ब्रह्मसूत्र	शांकरभाष्य	गोरखपुर	सं० २०२४
२९. वेदान्तसूत्र	अंग्रेजी अनुवाद द्वारा जी० थिबौट	ऑक्सफोर्ड	१८९० ई०
३०, शारीरिक भाष्य	शंकराचार्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९२७ ई०
३१. मनुस्मृति	मनु	वाराणसी	१९३२ ई०
३२. सम्बन्ध-वार्त्तिक	सुरेश्वराचर्य	मद्रास युनिवर्सिटी	१९५८ ई०

ग्रन्थका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
३३. नैष्कर्म्यसिद्धि	सुरेश्वराचार्य	पूना	१९२५ ई०
३४. वृहदारण्यक वार्त्तिक-सार-विद्यारण्य		निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	
३५. भामती	वाचस्पति मिश्र	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९३८ ई०
३६. ब्रह्मसिद्धि	मंडनमिश्र	मद्रास	१९३७ ई०
३७. शांकरवेदान्त	डा० गंगानाथ झा	दरभंगा लेक्चर्स सीरिज)	१९३९ ई०
३८. अद्वैतब्रह्मसिद्धि	सदानन्द यति	कलकत्ता	१८९० ई०
३९. ए स्टडी आफ द वेदान्त	एस० के० दास	कलकत्ता युनिवर्सिटी	१९३७ ई०
४०. द फिलास्फी आफ अद्वैत	टी० महादेवन	मद्रास	१९५७ ई०
४१. द वेदान्त एण्ड इट्स रिलेशन टु मोडर्न थौट	सिलानाथ तत्त्वभूषण	कलकत्ता	१९१२ ई०
४२. वेदान्त फिलास्फी	एफ मैक्समूलर	कलकत्ता	„
४३. अद्वैतसिद्धि प्रथमखण्ड	डी० श्रीनिवासाचार्य	मैसूर युनिवर्सिटी	१९३३ ई०
४४. अद्वैतसिद्धि द्वितीय एवं तृतीय खण्ड	एस० नारायण स्वामी	मैसूर युनिवर्सिटी	१९३३ ई०
४५. अद्वैतसिद्धि	मधुसूदन सरस्वती	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९३७ ई०
४६. कल्पतरु	अमलानन्द	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९३७ ई०
४७. परिमल	अप्पय्यदीक्षित	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	„
४८. पञ्चदशी	विद्यारण्य	„	„
४९. विवरणप्रमेयसंग्रह	विद्यारण्य	काशी	सं० १९१६

ग्रन्थका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
५०. वेदान्तसिद्धान्त-सुक्तिमंजरी	नरेन्द्रचन्द्र वेदान्ततीर्थ	कलकत्ता	१९३५ ई०
५१. प्रकटार्थ विवरणम्	टी० आर० चिन्तामणि	मद्रास	१९३९ ई०
५२. सिद्धान्तलेशसंग्रह	अप्पय्यदीक्षित	मद्रास	सं० १९९५
५३. इष्टसिद्धि	विमुक्तात्मन	बड़ौदा	१९३३ ई०
५४. खण्डनखण्डखाद्य	श्रीहर्ष	अच्युत कार्यालय, वाराणसी	,,
५५. नैषधीयचरित	श्रीहर्ष	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	,,
५६. पञ्चपादिका	पद्मपादाचार्य	गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मैन्यूसक्रीप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास	१९५८ ई०
५७. पञ्चपादिका विवरण	प्रकाशात्मा	गवर्नमेंट ओरियन्टल मैन्यूसक्रीप्ट्स लाइब्रेरी	१८९२ ई०
५८. तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी)	चित्सुखाचार्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९३१ ई०

गीता-महाभारत

१. गीतारहस्य	बी० जी० तिलक	पूना	१९३ ई०
२. भगवद्गीता संस्कृत टेक्स्ट इंग्लिश ट्रान्सलेशन एण्ड नोट्स	डा० एस० राधाकृष्ण०	लंदन	,,
३. ए क्रिटिकल स्टडी आफ द भगवद्गीता	म० म० उमेश मिश्र	इलाहाबाद	,,
४. महाभारत	व्यास	पूना	,,
५. महाभारत	व्यास भाषानुवाद	गोरखपुर	,,

पुराण

१. श्री विष्णुपुराण	पराशर (भाषानुवाद)-	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० १९६३

ग्रन्थका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
२. श्री शिवपुराण प्रथम खण्ड	वेदव्यास (भाषानुवाद)	मथुरा	सं० १९९६
३. श्री शिवपुराण द्वितीय खण्ड	वेदव्यास (भाषानुवाद)	मथुरा	सं० १९९७

मीमांसा

१. मीमांसासूत्र	जैमिनी	डा० गंगानाथ झा बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी (अंग्रेजी में)	१९४२
२. श्लोकवार्त्तिक	कुमारिलभट्ट	डा० सी० कुनंहन जाजा मद्रास यु०	१९४५
३. प्रभाकर स्कूल आफ मीमांसा	गंगानाथ झा		
४. प्रकरण-पंचिका	पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री	हिन्दू यु०, बनारस	१९४३
५. मीमांसा दर्शन	मंडन मिश्र शास्त्री	जयपुर	१९५१ ई०

सांख्य

१. सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	मद्रास युनिवर्सिटी	१९४८
२. सांख्यतत्त्वकौमुदी	वाचस्पति मिश्र	कलकत्ता शाके०	१९५६
३. सांख्यप्रवचनभाष्य	विज्ञानभिक्षु	कैम्ब्रिज	१९४३ ई०
४. फिलास्फी आफ एनसिएन्ट इण्डिया	गार्वे		
५. द सांख्य सिस्टम	ए० बी० कीथ		
६. द सांख्य फिलास्फी	एस० सी० बनर्जी		

न्याय

१. न्यायसूत्र	गौतम	ओरियन्टलबुक एजेन्सी, पूना	१९३९ ई०
२. न्यायसूत्रभाष्य	वात्स्यायन	जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित कलकत्ता	

ग्रन्थका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
३. न्यायसूत्राज् विथ वात्स्यायन-अंग्रेजी अनुवाद भाष्य एण्ड उद्योत्कराज वार्त्तिक	गंगानाथ झा द्वारा	इन्डियन थौट इलाहाबाद	„
४. न्यायवार्त्तिकतात्पर्य-टीका	वाचस्पतिमिश्र	वाराणसी	१९१६ ई०
५. न्यायकुसुमाञ्जली	उदयन	तिरुपति	१९४१ ई०
६. तात्पर्यटीकापरिशुद्धि	उदयन		
७. न्यायमंजरी	जयन्त भट्ट	वाराणसी	१९३६ ई०
८. कारिकावली विथ द कमेन्ट्री सिद्धान्त-मुक्तावली (विथ दिनकरी रामरुद्री कमेन्ट्रीज)	विश्वनाथ	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	
९. तत्त्वचिन्तामणि	गंगेश उपाध्याय	इलाहाबाद	१९९३ ई०
१०. तर्कसंग्रह विथ दीपिका	अन्नम भट्ट	बम्बई	१९३२ ई०
११. इन्डक्टिव रिजनिंग	एस० बागची	कलकत्ता	१९५३ ई०

बौद्ध दर्शन

लंकावतारसूत्र	बी० नान्जियो द्वारा सम्पादित	क्योटो	१९२३ ई०
२. दशभूमिकसूत्र	डा० जे० रहडेर द्वारा सम्पादित	पेरिस	१९२६ ई०
३. स्टडीज इन द लंकावतारसूत्र	डी० टी० सुजुकी		„
४. आउटलाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म	डी० टी० सुजुकी		„
५. द अवेकनिंग आफ़ फेथ इन महायान बुद्धिज्म	टी० सुजुकी	शिकागो	१९०० ई०

ग्रन्थका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
६. द अवेकनिंग आफ फेथ टी० रिचार्ड इन महायान बुद्धिज्म		संघाइ ,	१९०७ ई०
७. महायानसूत्रालङ्कार	असंग	ए० लेमी द्वारा सम्पादित, पेरिस	१९०७ ई०
८. विग्रह-व्यावर्तनी-कारिका	नागार्जुन	राहुल सांकृ० द्वारा सम्पादित जनरल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा पटना	१९३७ ई०
९. प्रमाणसमुच्चय	दिङ्नाग	मैसूर युनिवर्सिटी	१९३०
१०. आलम्बन परीक्षा	दिङ्नाग	अदयार लाइब्रेरी	१९४१
११. न्यायबिन्दु	धर्मकीर्ति	पं० राहुल सांकृत्यायन द्वारा द जनरल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना में सम्पादित	१९३८ ई०
१३. प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति	धर्मकीर्ति	प० राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित किताब महल इलाहाबाद	१९४३
१४. वादन्याय	धर्मकीर्ति	प० राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित द जनरल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना	१९३६
१५. न्यायबिन्दुटीका	धर्मोत्तर	कलकत्ता	१८८९ ई०

ग्रन्थका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
१६. प्रसन्नपदामध्यमकवृत्ति	चन्द्रकीर्ति	सम्पादक पौजिन सेन्ट पेटर्सबर्ग	१९०३
१७. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	वसुबन्धु	सम्पादक-एस० लेमी पेरिस	१९२५ ई०
१८. अभिधर्मकोष	वसुबन्धु	सम्पादक-प० राहुल सांकृत्यायन, बनारस	१९३१ ई०
१९. बुद्धिस्ट फिलास्फी आफ युनिमर्सले पलक्स	एस० मुखर्जी		

विविध

१. काव्य-प्रकाश	आचार्य मम्मट	महेश्वर न्यायालङ्कार की टीका सहित	१९३६ ई०
२. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलास्फी	डा० एस० एन० दास गुप्त भा० १-४		
३. इन्डियन फिलास्फी	डा० एस० राधाकृष्णन भा० १-२		
४. आउटलाइन्स आफ इन्डियन फिलास्फी	एम० हिरियन्ना		
५. इन्ट्रोडक्सन टू इन्डियन फिलास्फी	चटर्जी एण्ड दत्त	कलकत्ता युनिवर्सिटी	१९३९ ई०
६. द सिक्स वेज आफ नोइंग	डी० एम० दत्त		
७. द न्याय थ्योरी आफ नौलेज	एस० सी० चटर्जी		

सहायक शोध पत्रिकाओं की सूची

शोध-पत्रिका का नाम	प्रकाशन-स्थान	अङ्क
१, आवर हेरिटेज	कलकत्ता	भा० १ पा० १ १९५३ ई०
२. मित्र वाणी विशेषाङ्क	अलधरा-ठाढ़ी	अङ्क १ १९८५ शाके
३. द इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली	कलकत्ता	भा० ३ १९२५ ई०
४. द इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली	कलकत्ता	भा० ३ १९२७ ई०
५. द इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली	कलकत्ता	भा० २ पा० २ १९३१ ई०
६. द इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली	कलकत्ता	भा० २ पा० ३ १९३१ ई०
७. द इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली	कलकत्ता	भा० १३ पा० २
८. द इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली	कलकत्ता	भा० १५ पा० ३
९. द इन्डियन हिस्टोक्वार्टरली	कलकत्ता	भा० १७ पा० २ १९४१ ई०
१०. द इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली	कलकत्ता	भा० २७ पा० ४
११. एनाल्स आफ द भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीच्यूट,	पूना	भा० ९ पा० १ १९२७ ई०
१२. एनाल्स आफ द भन्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंन्सटीच्यूट,	पूना	भा० २७ पा० १-२
१३. एनाल्स आफ द भंडाकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीच्यूट,	पूना	भा० ३३ पा० १-४

ग्रन्थका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
१४. एनाल्स आफ द मंडाकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीच्यूट,	पूना	भा० ३४ पा० १-४	
१५. ब्रह्मविद्या बुलेटिन	मद्रास	भा० २२ पा० ३-४	१९५८
१६. ब्रह्मविद्या बुलेटिन	मद्रास	भा० २४ पा० ३-४	१९६०
१७. ब्रह्मविद्या बुलेटिन	मद्रास	भा० २५ पा० १-४	१९६१
१८. द जर्नल आफ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी	पटना	भा० १४ पा० ३	१९२८
१९. द जर्नल आफ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी	पटना	भा० २३	१९३७
२०. बिहार रिसर्च सोसाइटी जर्नल	पटना	भा० पा० ४	
२१. बिहार रिसर्च सोसाइटी जर्नल	पटना	भा० पा० १-४	१९६३

शोध-पत्रिका का नाम	प्रकाशन-स्थान	अङ्क
२२. दार्शनिक त्रैमासिक	फरीदकोट	अंक १, १९६५ ई०
२३. कल्याण	गोरखपुर	भा० १० अंक १-३, सं० १९९२
२४. द इण्डियन रिसर्च इन्सटीच्यूट (बी०सी० लाव मातुम)	कलकत्ता	१९४५ ई०
२५. जर्नल आफ द रोयल एसिएटिक सोसाइटी	लंदन	अप्रील, १९२६ ई०
२६. जर्नल आफ द रोयल एसिएटिक सोसाइटी	लंदन	अप्रील, १९३६ ई०

ग्रन्थका नाम	रचयिता	प्रकाशन-स्थान	संस्करण
२७. जर्नल आफ द रोयल एसिएटिक सोसाइटी		लंदन	अप्रील, १२३६ ई०
२८. जर्नल आफ द एसिएटिक सोसाइटी लेटर्स		कलकत्ता	भा० १७ पा० ३, १९५१ ई०
२९. जर्नल आफ द एसिएटिक सोसाइटी लेटर्स		कलकत्ता	भा० ९२ १९२६ ई०